आचार्यश्री तुलसीके अमर संदेश

प्र का श क :

आदर्श - साहित्य - संघ

सरदारशहर (राजस्थान)

प्रकाशक :

आदर्श साहित्य संघ

सरदारशहर (राजस्थान)

प्रथम संस्करण—२५००

वसन्त पंचमी

सं० २००८

मुद्रक :

मदनकुमार मेहता

रेफिल आर्ट प्रेस

(आदर्श-साहित्य-संघ द्वारा संचालित)

३१, बड़तल्ला स्ट्रीट

कलकत्ता

★ प्रकाशकीय

स्वतन्त्र भारतके सर्वोदय और विश्वके नव निर्माणमें आज ऐसे साहित्यकी आवश्यकता है, जो आध्यात्मिक विकासके साथ जनगणमें चरित्र-बल जागृत कर सके और संत्रस्त मानवताका पथ-प्रदर्शन कर नैतिकताका संचार कर सके। इस दिशामें अपने सृजनात्मक लक्ष्यको लेकर 'आदर्श साहित्य संघ' विभिन्न मालाओंके रूपमें सुव्यवस्थित प्रकाशन करता रहा है और आज भी सक्रिय प्रयत्नशील है।

"आचार्यश्री तुलसीके अमर सन्देश" यह आचार्यश्री तुलसी के विशेष महत्त्वपूर्ण अवसरों पर दिये गये प्रवचनोंका संग्रह है, जो प्रगतिशील आध्यात्मिक तत्त्वको लेकर स्वतन्त्रता, शान्ति और मानवताके नव निर्माणमें एक मूल्यवान् विचार निधि है; जिसका कि प्रकाशन आपके समक्ष रखते हुए हमें विशेष गौरव है।

आचार्यश्रीके व्याख्यानोंको सुश्रृङ्खलित रूपसे प्रकाशित करने की योजनामें हम संलग्न हैं। यह तो एक चुम्बक मात्र है। आचार्यश्री तुलसीकी वाणी, आजकी जनताकी वाणी है। इसमें आजके भौतिकवादसे संत्रस्त मानव समाजकी करुण

पुकार है। अतः आपके संदेश सम्प्रति प्रान्त व राष्ट्रकी सीमाओं को लाधकर अन्तर्राष्ट्रीय होते जा रहे है। विश्वकी दुःख और दैन्यसे संत्रस्त जनता आपसे विशेष मार्ग-दर्शन चाह रही है।

हमें आशा है प्रस्तुत संग्रह विश्व-साहित्यकी एक अमूल्य विचार-निधिके साथ २ लोक-कल्याणके लिए अनुपम उपहार सिद्ध होगा।

—प्रकाशन मन्त्री

४

'आचार्यश्री तुलसीके अमर सन्देश' सर्वोदय ज्ञानमालाका चौथा पुष्प है। जिसका उद्देश्य विशुद्ध तत्त्व-ज्ञानके साथ भारतीय और जैन-दर्शनका प्रचार करना है। प्रस्तुत ग्रन्थके प्रकाशनमें सिरसा (पंजाब) निवासी श्री पूनमचन्दजी गुजरानीने अपने स्व० पिताश्री भूरामलजी गुजरानीकी स्मृतिमें नैतिक सहयोगके साथ आर्थिक योग देकर अपनी सांस्कृतिक व साहित्य-सुरुचिका परिचय दिया है, जो सबके लिए अनुकरणीय है। हम आदर्श-साहित्य-संघकी ओरसे सादर आभार प्रकट करते हैं।

—प्रकाशन मन्त्री

विषय-सूचि

आचार्यश्री तुलसी के अमर संदेश

अपरिग्रह और अर्थवाद

अर्थ-विवाद

अर्थवादमें न जाएँ, यथार्थवादकी ओर चलें, तो भी यह कहना होगा कि कभी अर्थके लिये वाद था, आज अर्थका वाद है। पहली अभिसन्धि होती, तो मनुष्य परतन्त्र नहीं बनता, मूढ़ नहीं होता। अर्थके लिए अर्थका व्यवहार होता, तो विवाद नहीं बढ़ता। आज अर्थवादकी अपेक्षा 'अर्थ-विवाद' का प्रयोग मुझे अधिक उपयुक्त लगता है। प्रयोजन हो, न हो, जितना अर्थ-संग्रह हो जाय, उतना ही भला है। जमीनका धन जमीनमें गड़ा रह जाए, करोड़पति होनेका संकल्प तो अधूरा नहीं रहता। रोटी खाना प्रयोजन है, तो क्या 'अहं' की पूर्ति प्रयोजन नहीं? बड़ों-बूढ़ोंका आदेश मानना विनय है, तो क्या आकाश जैसी विशाल-काय और सनातन 'तृष्णा' के शासनका उल्लंघन करना अविनय नहीं?

विवादात्मक स्थिति

दोनों ओर विवाद है—अर्थके लिए, फिर 'अर्थवाद' कहाँ ? अर्थ-विवाद हुआ। प्रयोजनके लिए भी अर्थ न रहे, यह कोरी कल्पना है। दूसरी अभिसन्धि नहीं होनी चाहिए। अर्थका वाद नहीं होना चाहिए। उसकी कहानी और प्रमुखता नहीं होनी चाहिए। "सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति"—यह नहीं होना चाहिए। अर्थका विवाद तो और भी बुरा है। अर्थ श्रम हो, तो उसका वाद भी चल सकता है। अर्थ सोने और चादीके टुकड़े हों, पत्थरके टुकड़े हों, तो उसका वाद क्या ? जड़का क्या वाद ? यह मूढ़ मानवकी कल्पना है। ठीक कहा है:—

"मूढैः पाषाणखण्डेषु रत्नसंज्ञा विधीयते।"

जो कुछ कहा जाय, मूढ़ मानसकी कल्पनाके जादूका असर किस पर नहीं। विवादकी जड़ यह है कि धनिक पूँजी छोड़ना नहीं चाहते, गरीब पूँजीपति बनना चाहते हैं। विवाद धनिक नहीं मिटा सकते, गरीब मिटा सकते हैं। सीधा रास्ता यह है कि गरीब पूँजीकी ओर न ताकें, पूँजीके कारण पूँजीपतिको महत्त्व न दें। गरीबोंकी दृष्टि भी पूँजीकी ओर लगी रहे, तब क्या कारण है कि अर्थपति अर्थका मोह छोड़ें, उसे अनर्थ-मूल मानें। त्यागकी प्रतिष्ठा होगी, विवाद तब मिटेगा। सबकी दृष्टि अर्थ पर केन्द्रित हो, तब विवाद कैसे मिटे ? केन्द्र एक है, उसकी ओर द्रुतगतिसे दौड़ है सबकी, टक्कर कैसे न होगी ?

अपरिग्रह

गति वदल दो, दूसरी ओर देखने लग जाओ। वहाँ अपरिग्रहके दर्शन होंगे। परिग्रह वृत्तियोंमें रहता है, मनमें रहता है, वस्तुओंमें नहीं। वस्तु पर है। परमें स्वकी वुद्धि वनी कि परिग्रह वन जाता है, मूलतः मूर्छा और सम्वन्धतः वस्तुएँ भी। वस्तुओंके विना जीवन नहीं चलता। वस्तुसे वस्तु मिलनेका युग चल वसा। अर्थका माध्यम है। उसे कोई कैसे छोड़े? अपरिग्रही वने? स्थिति न वदले, सामूहिक भावना न जाग उठे, तव तक कोई क्या करे? सव साधु सन्यासी नहीं वनते, भिक्षासे जीवन नहीं चलाते। प्रश्न उचित है। पर यह आवरण वनकर नहीं, प्रकाशकी किरण वनकर आता है। यह सही है कि सव अपरिग्रही नहीं वन सकते; पर अपरिग्रहके पथिक वन सकते हैं। परिग्रह पीठके पीछे रहे, मुँहके सामने नहीं। लोग उसको न देखें, वह उनको देखे। उपेक्षासे अपेक्षा ठीक चलती है, अपेक्षासे अपेक्षा पूरी नहीं होती। अपेक्षा सुखकी होनी चाहिए। वह परिग्रहमें नहीं, अपने आपमें है। सुखकी थोथी कल्पनामें अर्थका वाद चल पड़ा। उससे भला नहीं हुआ। भला तव होगा, जव अपरिग्रह सवका दृष्टिकेन्द्र वने, संग्रहकी भावना त्यागमें वदले, अर्थका वाद मिटे और अपरिग्रहका भाव वढ़े।

[दिल्ली सब्जीमण्डीमें आयोजित साहित्य गोष्ठीमें]

ज्येष्ठ शुक्ला १२, सं० २००७

([illegible])

वाद का व्यामोह

वर्तमान दुनिया वादके पीछे बुरी तरह पड़ी हुई है। वाद प्रसारके लिए विवादही नहीं बढ़ता, युद्धतक छिड़ जाता है। कारण कि आज वादका अर्थ अधिकार है। जिसका वाद जितना अधिक फैलता है, उसके अधिकार उतने अधिक व्यापक हो जाते हैं। फलतः देखाजाय तो लड़ाई वादकी नहीं अधिकारोंकी है—सत्ताकी है।

बीसवीं सदीका सभ्य मानव स्वतन्त्रताकी रट लगानेमें जितना सभ्य बना है, उतना सभ्य स्वतन्त्रताकी रक्षामें नहीं बना। स्वतन्त्रताका मानी है अपनी सत्ताको, अपने स्वार्थोंको आँच न आये। दूसरोंकी स्वतन्त्रता छीनना तो कोई दोष जैसा लगताही नहीं। यही तो वादका व्यामोह है।

मनुष्य अपने हितकी बात सोचता है, अपनेको स्वतन्त्र रखकर और दूसरोंके हितकी बात सोचता है उन्हें परतन्त्र रखकर। इस भावनाने मानव-समाजको अहंकारी, स्वार्थी और पागल बना दिया। दो विश्व-युद्धोंमें यही तो हमने देखा। तीसरा विश्वयुद्ध

मनमें पहले ही समा गया। दूसरे विश्व-युद्धकी ज्वाला बुझी ही नहीं कि तीसरेकी चर्चा छिड़ गई। अब लोगोंको ऐसा लगता है कि वह कार्यरूपमें परिणत होनेके आसपास है। कोरियाके युद्धने इस आशंकाको और बलवान् बनादिया। युद्धके थपेड़ोंसे घबड़ाया हुआ मानव चाहता है कि वह संघर्ष विश्वयुद्धका रूप न ले। यदि यह हुआ तो दुनियांके दिन कुछ अच्छे हैं। यदि कोरियाने विश्वयुद्धके लिए चिनगारीका काम किया तो आक्रान्ता कोरिया मानव जातिके लिए ही नहीं अपितु; मानवीय संस्कृतिके लिए भी अभिशाप होगा।

युद्धकालमें इनेगिने उद्योगपतियोंके सिवाय साधारण जनताकी जो दशा होती है, उसे कौन नहीं जानता। दूसरे महायुद्धकी बुराइयाँ आज पाँच वर्षके बाद भी दुनियांको बुरी तरह चबा रही हैं। युद्धसे एक ओर शक्तिका अपव्यय होता है, दूसरी ओर गरीबी और भूखमरीकी बाढ़ आ जाती है। इससे भौतिक हानि ही नहीं किन्तु महान् नैतिक पतन होता है। जिसकी कड़वी घूँट आजकी दुनियां पी रही है या पीनी पड़ रही है।

युद्धकी पागल मनोवृत्ति मनुष्यको जन्मान्ध बनाये रखती है। दुनियांके मानचित्र बदलनेकी धुनमें सेनानी मानवताको विसर जाते हैं। अधिकारोंकी भूख क्या कैसी भूख है, इसे कोई समझ नहीं पाया। इतिहासके हजारों पात्र अपनी भूख बुझाये बिना ही मर मिटे—रंगे हाथ चल बसे, फिर भी उस अभिनयकी परिसमाप्ति नहीं हुई है। आज भी उन्हींके पद-चिह्नों पर चलनेका प्रयत्न हो

रहा है। हो भी क्यों न ? आगसे आग बुझानेकी बात बड़े-बड़े दिमागोंमें रमी हुई है। अधिकार और सत्ता विजयमें है। उसके साधन हैं—अस्त्र-शस्त्र। जिसके पास वे प्रचुर हैं, अधिकसे अधिक वैज्ञानिक ढंगसे बने हुए हैं या यों कहना चाहिए कि अधिक से अधिक नरसंहारक है, वह राष्ट्र अधिक बलवान्, शक्तिशाली और अजेय है। यह भौतिकवादी कल्पना है। इसीके सहारे ये युद्धके अखाड़े चल रहे हैं। मानवका ही नहीं, मानवताका भी विनाश हो रहा है। कितना अच्छा हो यह स्थान अध्यात्मवाद पा ले।

अध्यात्म शब्दमात्रका वाद है, वास्तविक नहीं। वास्तवमें तो वह आत्माकी गति है। बलात् दूसरों पर अपनी संस्कृति या वाद लादनेकी चेष्टाका दूसरा रूप है—संघर्ष। मैं नहीं चाहता कि ऐसा हो। फिरभी मैं प्रत्येक विचारक व्यक्तिसे यह अनुरोध करूंगा कि वे अध्यात्मवादको अपनायें। यह किसी देश या जातिका वाद नहीं, आत्माका वाद है। जिसके पास आत्मा है, चैतन्य है, हेयोपादेयका विवेक है, उसका वाद है। इसलिए इसकी जागृति करना अपने आपको जगाना है।

लोग अपनी अन्तर-आत्माकी पुकार नहीं सुनते, दूसरोंकी सुनते हैं, उसके लिए नहीं जीते, सोने चांदीके टुकड़ोंके लिए जीते हैं, यही दुःखका हेतु है। वे अपने आपको कुछ भी न मानकर बाहरी वस्तुओंको ही सब कुछ मानते हैं, इसीलिए उनकी बुद्धिमें जय-पराजयकी कल्पना है—उनका मिलना या न मिलना, उनका रह

जाना या चला जाना। सही अर्थमें बाहरी वस्तुओं पर विजयकी भावना ही आत्माकी पराजय है।

यहाँ विजयका अर्थ है—आत्मनियन्त्रण। स्पष्ट शब्दोंमें कहूं तो अहिंसा। अहिंसाका नाम आज सब क्षेत्रोंमें प्रसिद्ध और प्रिय है। भारतके सन्तोंकी ही नहीं, दुनियां भरके सन्तोंकी यह देन सबके लिए समान रूपसे उपादेय है। हिंसाके इतने रुद्र प्रयोग और दुष्परिणाम देखनेके बाद भी दुनियां उससे दूर नहीं होती। इससे बढ़कर क्या आश्चर्य हो सकता है? हिंसाकी तरह अहिंसा का एक बार ही जीवनव्यापी प्रयोग हो जाय तो सम्भव है कि पृथ्वी पर स्वर्ग उतर आये। कारण कि अहिंसामें स्व-पर, शत्रु-मित्र और जय-पराजयकी कल्पना नहीं होती। उसमें होता है—आत्मसमताका दर्शन।

भगवान् महावीरने कहा—"जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है।" इस आत्म-साम्यकी बुद्धिसे ही विश्वका भला हो सकता है। वैरसे वैर बढ़ता है। प्रतिशोधकी परम्परा प्रतिशोधमें ही समाप्त नहीं होती, उसका अन्त होता है मैत्रीमें। वह दिन अभ्युदयका होगा, जिस दिन युद्धका प्रतिशोध मैत्रीसे लिया जायगा। वादका व्यामोह न रहकर मैत्रीका भाव बढ़ेगा।

भिवानी (पञ्जाब)
आषाढ़ (प्रथम) शुक्ला १४, सं० २००७

संघर्ष कैसे मिटे ?

युद्ध कैसे टले ?

जबसे मैं दिल्ली आया हूं, तबसे महीनेमें ३० दिन नहीं तो लगभग २५ दिन मेरे सामने यह प्रश्न आया होगा कि यह संघर्ष कैसे मिटे ? युद्ध कैसे टले ? इसीलिए मैंने इस वक्तव्यका शीर्षक भी यही रखा है कि संघर्ष कैसे मिटे ?

पूँजी बनाम श्रम

आजका संघर्ष पूँजी और श्रमका संघर्ष है। लोग कहते है पूँजीका प्रतिनिधि अमेरिका है और श्रमका प्रतिनिधि है रूस। यह भी जनताकी धारणा है। मेरी धारणा इससे भिन्न है। मेरा सिद्धांत कुछ और है। राष्ट्रीय पूँजी संग्रह भी उतना ही बुरा है, जितना व्यक्तिगत। आजका आर्थिक ढांचा विषमतामूलक है। यह दृष्टि समाज तक ही सीमित क्यों ? राष्ट्रों तक क्यों नहीं पहुंचती ? जीवन-निर्वाहके लिए पूँजी आवश्यक होती है, किन्तु

जीवनका वही एकमात्र मुख्य प्रश्न है, यह मैं नहीं मानता। आर्थिक विषमता मिटने मात्रसे सब कुछ ठीक हो जायगा, मुझे ऐसा नहीं लगता।

हाँ, आर्थिक वैषम्यको लेकर जो स्थिति बिगड़ रही है, उसे भी हम दृष्टिसे ओझल नहीं कर सकते। मेरी दृष्टिमें साम्यवाद इसी का परिणाम है। जिस मनुष्यमें दैवी शक्ति है, क्या उसके लिए यह गौरवकी बात है कि वह आर्थिक समस्यामें, जो कि जीवनका एक तुच्छ पहलू है, उलझा रहे ? पर करें भी क्या ? जब पेट नहीं पलता, तब माथेको चलाये कौन ? भूखमें कुछ अच्छा नहीं लगता। आध्यात्मिक और नैतिक बातें नहीं सुहातीं।

साम्यवाद और पूँजीवाद

लोग मुझसे पूछा करते हैं कि भारतमें साम्यवाद आयेगा ? मैं इसके लिए क्या कहूं ? यही कहना पड़ता है—आप बुलायेंगे तो आयेगा, नहीं तो नहीं।

हमारे अध्यात्मप्रधान क्षेत्रमें वैसे जड़वाद और आर्थिक साम्यवादकी क्या आवश्यकता है, जो अर्थसे लेकर आत्मा तककी समानता की प्रयोगशाला रहा है। सुननेमें आता है—धनी लोग साम्यवाद नहीं चाहते। हम गहराईमें जायें, तो बात कुछ और मिलेगी। पूँजीपतियोंने इसे जन्म दिया और वे ही उसे फैला रहे हैं। मेरी निश्चित धारणा है—पूँजी मुट्ठी भर पूंजीपतियोंके हाथमें केन्द्रित नहीं होती, तो साम्यवाद दुनियांके पट पर नहीं

आता। मैं साम्यवादको स्थायी दर्शन नहीं मानता। यह समय की चीज है। आवश्यकताकी माग है। यदि आज पूरी हो जाय तो वह भी आजका आज मिट जाय।

लोगोंको इस बातकी चिन्ता है कि कहीं साम्यवाद आयेगा, तो हमारे धर्म-कर्म मिट जायेंगे।

मैं पूछना चाहता हूं—यह हृदयकी बात है या बनावटी? यदि सचमुच हार्दिक चिन्ता है, तो संग्रह क्यों?

संग्रहका अर्थ है—धर्मका नाश और पापका पोषण।

दूसरेका पैसा चुराये बिना, अधिकार लूटे बिना पूंजीका केन्द्रीकरण हो नहीं सकता।

धर्म कहता है—पूंजी अनर्थका मूल है, अन्यायका अखाड़ा है। धर्मकी धनसे नहीं पटती। धर्म और धनके आपसमें पूर्व-पश्चिमका विरोध है। धर्म-क्षेत्रमें धनी और धनकी आशा रखनेवाले दरिद्रका महत्त्व नहीं। वहां महत्त्व है अपरिग्रही और त्यागीका। इसीलिए दरिद्र और त्यागी अकिञ्चन होते हुए भी एक नहीं होते।

जिसके हृदयमें धर्मकी तड़प है, उसकी रक्षाकी चिन्ता है, वे मेरी सलाह मानें—अर्थ संग्रह करना छोड़दें। उनकी भावना अपने आप सफल हो जायगी।

दान करनेके लिए भी आप संग्रहकी भावना मत रखिए। दुनियां आपके दानकी भूखी नहीं, उसे आपके संग्रह पर रोष है। यदि पूंजीपति इसे नहीं समझ पाये, तो चालू वेग न अणुबमसे रुकेगा, न अस्त्र-शस्त्रोंके वितरण से।

आप यह मत समझिए कि मैं कोई साम्यवादका समर्थक हूं। मुझे साम्यवाद त्रुटिपूर्ण दिखायी देता है, पूँजीवाद तो है ही। मैं तो यह चाहता हूं कि मनुष्य रोटीकी चिन्तामें ही न रहे, आगे भी प्रगति करे। आध्यात्मिक विकास करे।

साम्यवादकी त्रुटि क्या है, वह भी मैं आपको बताऊँ।

जो चिकित्सा-पद्धति रोगको क्षणके लिए दबा दे, शान्त कर दे, वह निर्दोष या पूर्ण नहीं समझी जाती। साम्यवाद आर्थिक वैषम्यको मिटानेकी चेष्टा करता है; किन्तु वह होता क्यों है? उसके होनेका निमित्त क्या है? इस निर्णय तक ठीक नहीं पहुंचा है। जड़ हाथ नहीं लगी है।

भारतीय तत्त्ववेत्ता हजारों वर्ष पहले इसके मूल तक पहुंच चुके। उन्होंने बताया कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और समानताका विकास इसलिए नहीं होता है कि मनुष्यके हृदयमें 'मूर्छा' है, बाहरी वस्तुओंके प्रति ममता है—आकर्षण है। बाहरी वस्तुएँ दुःख नहीं देतीं, दुःख देता है उनके प्रति होने वाला आकर्षण।

बाहरी वस्तुओंके बिना जीवन नहीं चलता। इसीलिए उनका जीवनमें स्थान है। उनको सर्वस्व नहीं समझ लेना चाहिए।

हमने रोगका निदान किया है और ठीक किया है, इसलिए हम उसका स्थायी उपचार करें—यह हमारा कर्तव्य है।

कार्लमार्क्सने आवश्यक वस्तुओंके समाजीकरणका सूत्र दुनियां के सामने रखा, जो प्रयोगमें आया है, पूँजीवादके लिए जहरका घूंट बना है।

अपरिग्रह व्रत

भारतीय निर्ग्रन्थोंने 'इच्छा परिमाण' का सूत्र जनताके सम्मुख रक्खा था, जिसे अपरिग्रह व्रत या 'आकांक्षाओंकी सीमा' कहा जाता है।

साम्यवादके अनुयायियोंको इस सूत्रके सुलझानेकी आवश्यकता है।

जब तक इच्छाओंको सीमित करनेकी बातका यथेष्ट प्रचार नहीं होगा, तब तक पूर्तिके साधनोंका समाजीकरण केवल बाह्य उपचार होगा। व्यक्तिकी स्थिति राष्ट्र ले लेगा। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रका शोषक बन जायेगा। समस्याका ठीक समाधान नहीं हो सकेगा।

इस सूत्रके प्रचारमें कठिनाई है, उससे मैं अनजान नहीं हूं। आर्थिक समानताका सूत्र पूँजीपतियोंको ही अप्रिय लगेगा, किन्तु इच्छा-नियन्त्रणका सूत्र पूँजीपति और गरीब दोनोंको अप्रिय लगेगा। लगे, यह तो रोगका उपचार है। इसमें प्रिय-अप्रिय लगनेका प्रश्न नहीं होता। मुझे इस बातका गौरव है कि भारतीय जनताने अपने पूर्वजोंकी देनका न केवल स्वागत ही किया, अपितु उसे जीवनमें उतारा। और किसे दोष दूं, समयका दोष समझिये कि भारतीय जनता आज उससे काफी दूर है।

मैं चाहता हूं कि वह उसे आत्मानुगत करे, फिर दुनियाके सामने रक्खे। पुनरुक्ति होगी, फिर भी संक्षेपमें कह दूँ—मूर्च्छा

से संग्रह होता है, संग्रहसे श्रममें कमी होती है—वैषम्य बढ़ता है। अतएव हमें हमारा समतावाद सिखाता है—मूर्च्छा त्यागो। सच-मुच दुनियां युद्धसे डरती है, तो वह इस पथ पर आये। दरिद्र और पूँजीपति दोनों त्यागी बनें।

अणुव्रती संघ

इस प्रसंगमें अणुव्रती संघकी चर्चा भी अनुपयुक्त न होगी। अहिंसाको आदर्श मानकर चलनेवाला चरम अहिंसा तक न पहुंच सके, फिर भी नीतिभ्रष्ट नहीं होता। इस उद्देश्यसे संघकी स्थापना की गई है। यह त्याग-प्रधान है। त्याग नकारात्मक होता है। सामान्यतया भावमें अभाव और अभावमें भाव रहता ही है। फिर भी भारतीय दृष्टिमें निषेध व्यापक माना गया है और कर्मके साथ अनासक्तिका भाव जोड़ा गया है। जीवन चलाना और धन कमाना गौण प्रश्न है। मुख्य प्रश्न है—दूसरोंको मत सताओ, संग्रह मत करो। नकारकी सीमा जीवन-निर्वाहमें भी बाधक नहीं बनती और बुराइयोंसे भी बचाव हो जाता है। मैं चाहता हूं कि दुनियां त्यागका मूल्य आंके। आत्माको बलवान् बनानेके लिए त्यागकी परम्परा आवश्यक है। अणुव्रती संघमें जिस समाजकी कल्पना है, उसको सफल बनाना उन दोनोंका कर्तव्य है—जो पूँजीवादके विरोधी हैं और जो साम्यवादके विरोधी हैं। यह वह मध्य मार्ग है, जिसमें मनुष्य दोनों वादोंकी त्रुटियोंसे बच जाता है। जिनमें आत्महित की, दूसरे शब्दोंमें जनहितकी भावना है, वे अवश्य इस महायज्ञमें अपना योग देंगे, मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

साधु-संस्था

१२० वर्गोंमें विभक्त ६०० से अधिक साधु-साध्वियाँ इस प्रचारकार्यमें संलग्न हैं। इस संस्थाका नाम है 'तेरापन्थ'। अर्थ यह होता है—हे प्रभो! तेरा पन्थ। दो शताब्दी पूर्व आचार्य श्री भिक्षु द्वारा इसकी स्थापना हुई। इसका आधार है—महाव्रत, समानता, अनुशासन और संगठन। विधानानुसार एक आचार्य के नेतृत्वमें संस्थाका संचालन होता है। शिष्य सब एक आचार्यके होते हैं। शिष्य बनानेका अधिकार सिर्फ आचार्यको होता है। पुस्तकें संस्थाकी होती हैं। उन पर किसीका व्यक्तिगत अधिकार नहीं होता। संस्थाके सदस्योंकी जीवन-प्रणाली सामूहिक होती है। नेतृत्वकी दृष्टिसे यह संस्था एकतंत्रीय है और जीवन-व्यवहार की अपेक्षा इसमें साम्य और बहुतन्त्रका अंगीकार है। यह धर्मके लिए धनकी कोई आवश्यकता नहीं मानती। हमारे पास पूँजी नामकी कोई वस्तु नहीं, न हमारे मठ-मन्दिर आदि हैं। अपरिग्रही होनेके कारण हम पूर्ण सुखी और स्वतंत्र हैं। क्रांतिके फलस्वरूप इस संस्थाका प्रादुर्भाव हुआ और आज यह उसी रूपमें चालू है। अध्ययन, धर्मोपदेश, साहित्य-निर्माण, शिक्षा, आत्मचिन्तन, आत्म-आलोचन आदि-आदि प्रवृत्तियाँ हमारी दैनिक चर्याके अंग हैं। हम अपनी स्वावलम्बिताकी रक्षा करते हुए जनहितके लिए कुछ कर सकेंगे—मेरा यह दृढ़ निश्चय है।

नई दिल्ली सम्पादक सम्मेलनमें दूसरा वक्तव्य
ज्येष्ठ कृष्णा ३० (१६ मई '५०)

अशांत विश्वको शान्तिका संदेश

विषम परिस्थिति

यह वात तो विल्कुल स्पष्ट है कि आजकी दुनियां अशान्तिसे व्याकुल एवं पीड़ित है। केवल इने-गिने दृढ़व्रती, सन्तोषी, आत्म-कल्याणके पथिक, सर्वस्व त्यागी साधुओंके अतिरिक्त प्रायः समस्त ही लोक अपना जीवन बड़ीही अशान्त एवं विषम परिस्थितियोंमें से व्यतीत करता हुआ नजर आ रहा है। ऐसी सर्वव्यापिनी अशान्तिके कई कारण हो सकते हैं। परन्तु साम्प्रतकालीन अशान्ति का कारण जो हमारे सामने है, वह है—महा भीषण, प्रलयंकारी विश्व-युद्ध। यद्यपि यह युद्ध विश्वके कतिपय क्षेत्रोंतक ही सीमित है, तथापि इसका विषैला प्रभाव दुनियांके कोने-कोने में अपना असर डाल रहा है और इसीलिए यह ठीक ही विश्व-व्यापी युद्ध कहा जाता है। युद्ध नाम 'पारस्परिक-संघर्ष' का है। किसी भी प्रकार के पारस्परिक संघर्षमें अशान्ति, असन्तोष एवं विनाश के अतिरिक्त कोई लाभ नहीं हो सकता।

युद्धके परम्परा-कारण

प्राचीन कालमें युद्ध प्रायः तीन कारणोंसे ही हुआ करते थे :—

(१) स्त्री के लिए

(२) धन के लिए

(३) भूमि के लिए

राम और रावणका महायुद्ध, जो रामायणमें सविस्तर वर्णित है, एक मात्र साध्वी सीताको लेकर हुआ था। जैन-शास्त्रोंमें वर्णित कोणिक और महाराज चेटकका महासंग्राम दीर्घ काल तक चालू रहा और इसमें केवल दो ही दिनोंमें एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्योंका काल सिद्ध हुआ था। इस युद्धका मूल हेतु बहुमूल्य हार और सेचनक नामक गंधीहस्ती था। इस तरह यह युद्ध सम्पत्ति—धनके लिए ही हुआ था। कौरवों और पाण्डवोंका महायुद्ध—जो कि अनेक अक्षौहिणियों एवं अनेक महारथी वीरोंका क्षय करनेवाला हुआ था तथा जिसमें अर्जुनपुत्र वीर अभिमन्यु जैसेकी अन्याय-मृत्यु हुई थी—पाण्डव-चरित्रमें पूर्णतया वर्णित है। इस संग्रामका मूल कारण था—भूमि। जब कि पाण्डव बारह वर्षके प्रगट वनवास एवं तेरहवें वर्षके प्रच्छन्न वास करनेके बाद भाई दुर्योधनके पास केवल पाँचही ग्राम माँगकर सन्तोष कर लेना चाहते थे, तब क्या हानि होती यदि दुर्योधन उनके प्रस्तावको स्वीकार करलेता और विश्वको उस महाभीषण संग्रामसे और उसके विनाशकारी दुष्प्रभाव से मुक्त रखता? अथवा क्या हर्ज होता अगर पाण्डव ही तेरह वर्ष की तरह समूचा जीवन संयमसे व्यतीत कर देते? परन्तु जमीन

का विषय ऐसाही है कि मनुष्य इसके लिए सार्वजनिक हिताहित और अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्यकी भावनाको भी भूल जाता है।

युद्ध के अर्वाचीन कारण

साम्प्रतकालीन युद्धके कारणोंमें दो कारण तो वे ही हैं जो ऊपर बतलाये गये है, परन्तु पहले कारणसे अर्थात् स्त्री के हेतुसे युद्ध आधुनिक समयमें कमही सुननेमें आते हैं। उसके स्थानमें अब एक अन्य ही कारण प्रचलित हो गया है। वह है 'अपने सिद्धान्त,वाद या मत-विशेषका प्रचार'। यद्यपि वास्तविक सत्य सिद्धान्त एवं मत का प्रचार अत्यावश्यक है और प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें सत्य धर्म, सिद्धान्त या मतकी अमिट छाप का लगाना भी जरूरी है, परन्तु वह उपदेश, शिक्षा तथा अनवद्य प्रचार-पद्धति के द्वारा, हृदय परिवर्तन करके ही किया जाना अभीष्ट है। इसके विपरीत सत्य सिद्धान्तों एवं विचारोंके प्रचारके लिये भी जो कलह, युद्ध या प्राणनाशकारी शस्त्रादिकका प्रयोग करता है, वह निश्चय ही धर्म को उसके उच्च स्थानसे गिरानेवाला और संसार-शान्तिको भङ्ग और विनष्ट करनेवाला होता है। भगवान् महावीर जो सत्य धर्म के महान् प्रणेता और तत्कालीन परिस्थितियोंमें, ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे, एक महान् क्रान्तिकारी विचार-प्रवर्तकके रूपमें दुनियां में प्रकट हुए थे, उन्होंने केवल उपदेशसे व अपने विशुद्ध आचरण के आदर्शको जनताके समक्ष उपस्थित करके तथा निरवद्य प्रचार-पद्धतिको काममें लाकर ही उस हिंसा-युगमें अहिंसा-धर्मको

विश्वव्यापी बनाया था, न कि जोर-जुल्म, विग्रह, संग्राम, आर्थिक प्रलोभन या बल-प्रयोगसे। जबरदस्ती या आर्थिक प्रलोभनसे चोरकी चोरी, हिंसककी हिंसा, व्यभिचारीका व्यभिचार दूर करना 'धर्म प्रचार करना' न कहा जाकर 'अधर्म प्रचार' की कक्षामें आ-जाता है और अन्तमे वही अशान्ति या युद्धका कारण बन जाता है। वर्तमान जगत्के फासिज्म, नाजिज्म, बोल्सेविज्म आदि वादोंको इसी श्रेणीमे लिया जा सकता है। जिन वादों, शासन-सत्ता व धर्मोंका अस्तित्व और प्रचार, प्रतिशोध और हिंसा तथा पशुबलके आधार पर होता है, वे संसारमें चिरस्थायी एवं वास्तविक शान्तिकी स्थापना नहीं कर सकते।

इसके अतिरिक्त वर्तमानकालीन युद्धोंके अन्य कारण भी है। हम केवल दो ही कारणोंका उल्लेख करते है। यथा—

(१) वर्तमान शिक्षा प्रणाली : वर्तमान शिक्षा प्रणालीमे केवल भौतिक अभिसिद्धि ही मुख्यतया लक्ष्यभूत रहती है। आध्यात्मिक विकास, जो कि शिक्षाका मूल और चरम लक्ष्य रहना चाहिए, वह आधुनिक शिक्षा प्रणालीमें कमसे कम है। प्रारम्भ से ही अपरिपक्व मस्तिष्क वाले बालकोंको यही बात सिखलाई जाती है कि आत्मा नाम की कोई सनातन वस्तु नहीं है। बन्दरोंकी विकसित अवस्था ही मनुष्य है तथा आत्मा की उन्नति एवं जनकल्याण की भावनाके विकासका कोई मार्ग आमतौरसे नहीं बताया जाता है। इसके कारण उस अवस्थासे ही बालकोंके हृदयमें अविनय, उच्छृङ्खलता तथा स्वार्थ-परायणता और केवल भौतिक अभिसिद्धि

की ही भावना आदि अनेक अवगुण घर कर लेते हैं और आगे चलकर ये ही अशान्ति के कारण रूप वन जाते हैं।

(२) वैज्ञानिक आविष्कारोंके साथ-साथ प्रलयंकारी अस्त्र-शस्त्रोंकी आविष्कृति और उनका उपयोग : हालांकि विज्ञान कोई बुरी चीज नहीं है और न विज्ञानके द्वारा किये गये आविष्कार ही सदैव अशान्ति के कारण होते हैं, परन्तु उनके प्रयोगमें पूर्ण सतर्कता और सद्-भावना की आवश्यकता होती है। जैन सिद्धान्तोंमें भी तेजोलब्धि आदि कई शक्तियोंका वर्णन है। वह कई प्रकार की कठोर साधनाओंके द्वारा ही प्राप्त होती थी। जिसके पास वह शक्ति मौजूद होती है, वह मनुष्य अपने स्थान से ही उसके प्रयोग से एक वहुत बड़े भूभाग को (सोलह देशों को) भस्म कर सकता है। परन्तु ऐसी शक्तियोंके साधकोंको यह वात भी सिखलाई जाती थी कि उन शक्तियोंको प्रयोगमें लाने वाला उत्कृष्टतः अनन्त-काल-पर्य्यन्त संसार-चक्रमें वास—परिभ्रमण करता है। इसी कारण से ही वे शक्तिशाली किन्तु भवभीरु मनुष्य वैसी शक्ति को काम में लाने से विमुख रहते थे। किन्तु आधुनिक वैज्ञानिकों के हृदयमें ऐसी भावना वहुत कम रहती है और अपने विनाशकारी आवि-ष्कारोंके प्रयोगमें वे संसार के हित-अहित को भूल जाते हैं। फलस्वरूप विभिन्न देशोंके वैज्ञानिकोंके आविष्कारों की पारस्परिक स्पर्द्धा आगे जाकर भीषण संहारके रूपमें प्रकट होती है।

प्राचीन युद्धोंकी अपेक्षा वर्तमान युद्धोंकी भीषणता

युद्ध प्राचीन कालमें भी होते थे, वर्तमान कालमें भी होते हैं

और भविष्यत् कालमें नहीं होंगे, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि दुनियामें जबतक राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि विद्यमान रहेंगे, तबतक किसी न किसी रूपमें युद्ध भी होते रहेंगे। किन्तु अर्वाचीन युद्ध प्राचीन युद्धोंकी अपेक्षा अधिक विषम एवं नाशक है। प्राचीन युद्धोंमें प्रायः सैनिक और योद्धाओंका ही संहार होता था; वहां वर्तमानमें योद्धाओंके युद्धोंमें सैनिकोंके साथ निर्दोष नागरिकों— यहां तक कि बालक, स्त्री और अपाहिज तथा रोगियोंका भी घमसान देखने और सुननेमें आता है। प्राचीन युद्धोंमें रथारोहीका रथारोहीसे, अश्वारोहीका अश्वारोहीसे, पैदलका पैदलसे, अर्थात् उभय पक्षमें समान शस्त्रोंसे ही प्रायः युद्ध होता था। आकस्मिक आक्रमणकी अपेक्षा सामनेवालेको सावधान करके तथा ललकार कर प्रहार किया जाता था। अचानक या धोखेसे आक्रमण करना अधर्म-युद्ध कहा जाता था। अर्थात् युद्धमें भी नीति, न्याय और औचित्य पर दृष्टि रखी जाती थी। इसके विषयमें त्रिपृष्ट वासुदेवका उदाहरण बड़ा ही संगत है। ऐसे महायोद्धा भी थे कि जो संग्राममें भी विपक्षीके बाण चलानेके पहले बाण न चलाने की प्रतिज्ञा रखते थे। प्रसंगानुकूल वरुण (नाग दौहित्र) या महाराज चेटकका दृष्टान्त भी हृदयग्राही है। इसलिए मूलतः युद्ध पापमय होते हुए भी नीतिपूर्ण होनेके कारण धर्म-युद्ध कहलाते थे। आधुनिक युद्धोंमें तो एक मात्र नर-संहार ही मुख्य उद्देश्य रहता है। चाहे वह किसी प्रकार किया जाये। इस कारणसे वर्तमान कालीन युद्धोंको युद्ध न कहकर महाप्रलय कहें तो भी अतिशयोक्ति

नहीं होगी। इसीसे युद्धजन्य अशान्तिसे आक्रान्त होकर समस्त विश्व आज शान्तिकी मांग कर रहा है। विश्व-धर्म-सम्मेलन इस बातकी अपील कर रहा है कि समस्त धर्माचार्य्योंका यह कर्तव्य है कि वे अपनी ऐसी आवाज प्रत्येक प्राणीके कानों तक पहुंचायें, जिससे शान्तिकी पुनः स्थापना हो सके। विश्व-धर्म-सम्मेलन की अपील हमारे कानोंमें भी पड़ी और एक धर्माचार्यकी हैसियत से पीड़ित संसारको शान्तिका यह सन्देश सुनानेको उद्यत हुआ हूं। मुझे आशा है कि संसारका प्रत्येक सहृदय, शान्ति-इच्छुक सज्जन शान्तिके इस शुभ सन्देशको दत्तचित्त होकर सुनेगा, मनन करेगा और जीवनके प्रत्येक कार्यमें इसका अवलम्बन करते हुए न केवल अपनी आत्माको ही शान्ति प्रदान करेगा प्रत्युत साथ-साथ विश्व-शान्तिके प्रचारमें भी सहायक होगा।

शान्तिकी व्याख्या और भेद

शान्ति उस आह्लादका नाम है, जिससे आत्मामें जागृति, चेतनता, पवित्रता, हल्कापन और मूल स्वरूपकी अनुभूति होती है। एक वह भी संसारमें शान्ति कही जाती है जो भौतिक (पौद्गलिक) इष्ट-वस्तु-प्राप्तिके संयोगसे क्षणिक शारीरिक एवं मानसिक परितृप्तिके रूपमें प्राणीको अनुभवमें आती है। परन्तु यह शांति—अशांतिकी कारणभूत होनेसे वास्तविक शान्ति नहीं है। इसलिए पहले कही हुई शान्ति ही शान्ति-गवेषकके लिए अभीष्ट है। यह भी कई तरहकी है। एक व्यक्तिगत, दूसरी सामूहिक। एक सम्पूर्ण, दूसरी आंशिक। सम्पूर्ण शान्तिका अनुभव मोक्ष-

प्राप्त आत्मा ही कर सकती है। व्यक्तिगत शान्तिसे ही सामूहिक शान्ति प्राप्तकी जा सकती है। जैन-सिद्धान्तका महान् उद्देश्य और लक्ष्य चिर शान्तिको प्राप्त करनेका ही है। उसके उपाय इस प्रकार है :—

(१) महाव्रत, (२) व्रत और (३) सम्यक्त्व।

(१) महाव्रत और उनकी व्याख्या

महाव्रत पांच है। पहला महाव्रत—'प्राणातिपात-विरमण-व्रत' कहलाता है। इसका अर्थ है सर्व प्रकार के जीवों की सर्व हिंसा से निवृत्ति अर्थात् मन, वचन, काया से न किसी जीव का प्राणपात करना, न कराना और न अनुमोदन करना। दूसरा महाव्रत है –'मृषावाद-विरमण-व्रत' अर्थात् सर्व प्रकार के मिथ्या-वादसे सम्पूर्ण विरति। तीसर महाव्रत है—'अदत्तादान-विरमण-व्रत' अर्थात् सर्व प्रकार की चोरी से सम्पूर्ण विरति। चौथा महाव्रत है—'मैथुन-विरमण-व्रत' अर्थात् सर्व प्रकारके मैथुन से सम्पूर्ण विरति। पाँचवां महाव्रत है—'परिग्रह-विरमण-व्रत' अर्थात् धन-धान्यादि सर्व प्रकार की सम्पत्ति या उस पर ममत्व से विरति। इन पाँचों महाव्रतों का सम्यक् प्रकार पालन करने से यथा सम्भव कम समय में ही सम्पूर्ण शान्ति प्राप्त होती है। इन महा-व्रतों का पालन करने वाला मुनि कहलाता है। महाव्रतधारी को और भी बहुत से कठिन उपनियमों का पालन करना होता है। अतः हरेक साधारण व्यक्ति के लिए यह मार्ग आसान नहीं।

(२) व्रत और उनकी व्याख्या

साधारण व्यक्तियों के लिए प्रथम मार्ग की अपेक्षा जो वहुत सरल है, उस दूसरे मार्ग का दिग्दर्शन कराना आवश्यक है। वह है—'व्रत-पालन'। व्रत संख्या में बारह हैं। जिनमें पांच 'अणु-व्रत', तीन 'गुणव्रत' और चार 'शिक्षाव्रत' कहलाते हैं। संक्षेप में इनका खुलासा इस प्रकार है :—

प्रथम व्रत—'स्थूल-प्राणातिपात-विरमण-व्रत' कहलाता है। इसका अर्थ है यथाशक्य जीव हिंसा से निवृत्ति। दूसरा व्रत है—'स्थूल-मृषावाद-विरमण-व्रत' अर्थात् यथाशक्य असत्य से निवृत्ति। तीसरा व्रत है—'स्थूल-अदत्तादान-विरमण-व्रत' अर्थात् यथाशक्य चोरी से निवृत्ति। चौथा व्रत है—'स्थूल-मैथुन-विरमण-व्रत' अर्थात् यथाशक्य मैथुन से निवृत्ति और परदारा का त्याग। पांचवां व्रत है—'परिग्रह-परिमाण-व्रत' अर्थात् यथाशक्य परिग्रह से निवृत्ति। चूंकि ये पांचों व्रत उपरोक्त महाव्रतोंके ही स्थूल—छोटे रूप हैं अतः इन्हें 'अणुव्रत' कहा जाता है। छठा व्रत है—'दिशि-परिमाण-व्रत' अर्थात् छओं दिशाओंमें यथाशक्य गमना-गमन का परिमाण करना। सातवां व्रत है—'उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत' अर्थात् खाने, पीने, पहनने आदि में काम आनेवाली भोगोपभोग-वस्तुओंके व्यवहार का नियंत्रण या सीमा करना। आठवां व्रत है—'अनर्थ-दण्ड-विरमण-व्रत' अर्थात् कोई भी निरर्थक पाप करने का परित्याग करना। ये तीनों ही पिछले

प्राप्त आत्मा ही कर सकती है। व्यक्तिगत शान्तिसे ही सामूहिक शान्ति प्राप्तकी जा सकती है। जैन-सिद्धान्तका महान् उद्देश्य और लक्ष्य चिर शान्तिको प्राप्त करनेका ही है। उसके उपाय इस प्रकार हैं :—

(१) महाव्रत, (२) व्रत और (३) सम्यक्त्व।

(१) महाव्रत और उनकी व्याख्या

महाव्रत पांच हैं। पहला महाव्रत—'प्राणातिपात-विरमण-व्रत' कहलाता है। इसका अर्थ है सर्व प्रकार के जीवों की सर्व हिंसा से निवृत्ति अर्थात् मन, वचन, काया से न किसी जीव का प्राणपात करना, न कराना और न अनुमोदन करना। दूसरा महाव्रत है —'मृषावाद-विरमण-व्रत' अर्थात् सर्व प्रकार के मिथ्या-वादसे सम्पूर्ण विरति। तीसरा महाव्रत है—'अदत्तादान-विरमण-व्रत' अर्थात् सर्व प्रकार की चोरी से सम्पूर्ण विरति। चौथा महाव्रत है—'मैथुन-विरमण-व्रत' अर्थात् सर्व प्रकारके मैथुन से सम्पूर्ण विरति। पांचवा महाव्रत है—'परिग्रह-विरमण-व्रत' अर्थात् धन-धान्यादि सर्व प्रकार की सम्पत्ति या उस पर ममत्व से विरति। इन पांचों महाव्रतों का सम्यक् प्रकार पालन करने से यथा सम्भव कम समय मे ही सम्पूर्ण शान्ति प्राप्त होती है। इन महा-व्रतों का पालन करने वाला मुनि कहलाता है। महाव्रतधारी को और भी बहुत से कठिन उपनियमों का पालन करना होता है। अतः हरेक साधारण व्यक्ति के लिए यह मार्ग आसान नहीं।

(२) व्रत और उनकी व्याख्या

साधारण व्यक्तियों के लिए प्रथम मार्ग की अपेक्षा जो बहुत सरल है, उस दूसरे मार्ग का दिग्दर्शन कराना आवश्यक है। वह है—'व्रत-पालन'। व्रत संख्या में बारह हैं। जिनमें पांच 'अणु-व्रत', तीन 'गुणव्रत' और चार 'शिक्षाव्रत' कहलाते हैं। संक्षेप में इनका खुलासा इस प्रकार है :—

प्रथम व्रत—'स्थूल-प्राणातिपात-विरमण-व्रत' कहलाता है। इसका अर्थ है यथाशक्य जीव हिंसा से निवृत्ति। दूसरा व्रत है—'स्थूल-मृषावाद-विरमण-व्रत' अर्थात् यथाशक्य असत्य से निवृत्ति। तीसरा व्रत है—'स्थूल-अदत्तादान-विरमण-व्रत' अर्थात् यथाशक्य चोरी से निवृत्ति। चौथा व्रत है—'स्थूल-मैथुन-विरमण-व्रत' अर्थात् यथाशक्य मैथुन से निवृत्ति और परदारा का त्याग। पाँचवां व्रत है—'परिग्रह-परिमाण-व्रत' अर्थात् यथाशक्य परिग्रह से निवृत्ति। चूंकि ये पाँचों व्रत उपरोक्त महाव्रतोंके ही स्थूल—छोटे रूप हैं अतः इन्हें 'अणुव्रत' कहा जाता है। छठा व्रत है—'दिशि-परिमाण-व्रत' अर्थात् छओं दिशाओंमें यथाशक्य गमनागमन का परिमाण करना। सातवां व्रत है—'उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत' अर्थात् खाने, पीने, पहनने आदि में काम आनेवाली भोगोपभोग-वस्तुओंके व्यवहार का नियंत्रण या सीमा करना। आठवां व्रत है—'अनर्थ-दण्ड-विरमण-व्रत' अर्थात् कोई भी निरर्थक पाप करने का परित्याग करना। ये तीनों ही पिछले

व्रत प्रथम पांच अणुव्रतों के गुणों की वृद्धि करने वाले हैं—उन्हें व्यापक बनाते हैं—विस्तृत करते हैं, अतः इन्हें 'गुणव्रत' कहा जाता है। ये आठों व्रत जीवन-पर्य्यन्तके लिए होते हैं। नवमा व्रत—'सामायिक व्रत' कहलाता है। एक मुहूर्त के लिए सावद्य—पापकारी कार्यों का परित्याग कर साधुवत् वृत्ति धारण करना सामायिक व्रत है। एक मुहूर्त का नियम दिनमें एक बार या अनेक बार धारण किया जा सकता है। दशवां व्रत 'देशावकाशिक व्रत' कहलाता है। पहले आठ व्रत जीवन-पर्य्यन्त के होते हैं। दशवें व्रत में कुछ समय के लिए इन व्रतों की सीमा को और भी संकुचित करना देशावकाशिक व्रत कहलाता है। उदाहरणस्वरूप किसी ने अगर यह व्रत लिया हो कि वह किसी निरपराध त्रस हिलते-चलते जीव को जान बूझकर नहीं मारेगा तो वह किसी भी दिन कम या अधिक समय के लिए यह नियम ले कि वह उतने समयमें किसी भी प्राणीका वध नहीं करेगा तो यह देशावकाशिक व्रत होगा। ग्यारहवां व्रत—'पोपधोपवास-व्रत' कहलाता है। इसमें दिन-रात्रि के लिए समस्त खान-पान का त्याग कर, सकल पापकारी प्रवृत्तियों को छोड़ कर, आत्म-उपासना करनी पड़ती है और साधुवत् वृत्ति धारण करनी पड़ती है। इस नियम को व्रतधारी को वर्ष में कम से कम एक बार तो अवश्य पालन करना चाहिए। बारहवां व्रत—'अतिथि-संविभाग-व्रत' होता है। अपने खान-पान के निमित्त बनी हुई वस्तुएं जो शुद्ध हों, उनका कुछ भाग स्वेच्छापूर्वक त्यागवृत्ति से पंच महाव्रत पालक शुद्ध साधु को

देना—यही बारहवाँ व्रत है। अन्तिम चार व्रत 'शिक्षाव्रत' कहलाते हैं। क्योंकि ये अभ्यास रूप—शिक्षाप्रद हैं।

उपरोक्त बारह व्रतों—नियमों को पालन करने वाला 'श्रमणोपासक' या 'श्रावक' शब्द से पुकारा जाता है। ये बारह नियम शान्ति की खोज करने वाले के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। एक-एक नियम में संतोष—परितृप्ति की सुधा टपक रही है। सन्तोष से शान्ति प्राप्त होती है। इनकी विस्तृत व्याख्या के लिए 'उपासकदशांग सूत्र', प्रथम आचार्य श्रीमद् भीखणजी स्वामी कृत 'बारह व्रतकी चौपई' तथा श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी सभा द्वारा प्रकाशित 'श्रावक-व्रत-धारण-विधि' नामक पुस्तक का अवलोकन किया जा सकता है।

(३) सम्यक्त्व

सम्यक् अर्थात् यथावस्थित तत्त्व-श्रद्धान। संसारमें एक चैतन्य नाम की वस्तु है, जिसे 'जीव' कहते हैं। उसके लक्षण, स्वरूप और भेदों की अवगति करना। चेतन का विपक्षी अचेतन अर्थात् 'अजीव' पदार्थ। पौद्गलिक सुख-दुःख के कारण 'पुण्य' 'पाप'। चेतन की विजातीय वस्तु पुद्गल-रूप कर्मों के संयोग का हेतु 'आस्रव'। उस संयोग की रुकावट 'संवर'। चेतन-संयुक्त विजातीय द्रव्य की पृथक्ता को 'निर्जरा' कहते हैं। चेतन और अचेतन दोनों के अन्योन्य अश्लेष रूप 'बन्ध' और आत्यंतिक रूप से विजातीय वस्तुसे आत्मा की पृथक्ता के होने पर चैतन्य अर्थात् आत्मा का मूल स्वरूप में अवस्थान 'मोक्ष' है।

उपरोक्त तत्त्वों को हृदयंगम कर उनकी वास्तविकता पर दृढ़ विश्वास करने को जैन दर्शन में 'सम्यक्त्व' कहते हैं। सम्यक्त्व-वाले मनुष्य हर समय पर को पीड़ा देने में पराङ्मुख रहते हैं। इससे उनकी कलह, कदाग्रह एवं अशान्ति के प्रति उदासीनता रहती है। इसलिए जितना अधिक सम्यक्त्व का प्रचार किया जायगा, उतनी ही शान्ति की वृद्धि और अशान्तिका ह्रास होगा। उपरोक्त तीन उपाय विश्वशान्ति के लिए अत्यन्त उपयोगी साधन हैं।

विश्व-शान्तिके सार्वभौम उपाय

इन साधनोंमें भी यदि किसीके बाधा आती हो तो निम्न पंक्तियोंमें ऐसे कितनेक नियमोंका निर्देशन किया जाता है, जो सर्वमान्य एवं सर्व-धर्म-समर्थित कहे जा सकते हैं। जहाँ तक मैं समझता हूं, इनमें साम्प्रदायिकताकी किञ्चित् भी झलक नहीं है और इनमें अशान्ति-रोगकी अचूक दवा है। प्रत्येक प्राणीके लिए ये उपादेय हैं :—

(१) प्रथम—विश्व भरमें अहिंसाका प्रचार किया जाय और हिंसाके प्रति जनसाधारणके हृदयमें घृणा—हार्दिक घृणा उत्पन्न की जाय। 'स्वजीवनकी तरह ही दूसरोंको भी अपना जीवन वल्लभ है—न कि मरण'—इसका पाठ पढ़ाया जाय, जिससे शान्तिका बीजारोपण हो सके।

(२) क्रोध, अभिमान, दम्भ और असन्तोष ये चारों ही अशान्तिके मूल हैं। जितने ही विग्रह जगत्में हैं, वे सब कषाय-

चतुष्कके ही प्रभावमात्र हैं। इसलिए यथासाध्य इन चारोंको कम करनेका पूर्ण प्रयत्न किया जाय।

(३) वर्तमान शिक्षा प्रणालीमें परिवर्त्तन किया जाय। भौतिक अभिसिद्धिको ही एकमात्र लक्ष्य न रखकर शिक्षामें आध्यात्मिकताको मुख्य स्थान दिया जाय। इसके लिए राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय चेष्टा की जाय।

(४) भावी मानव-समाजकी व्यवस्था नैतिक और धार्मिक तथा सदाचारपूर्ण नियमोंको छोड़कर द्वेष और स्वार्थपूर्ण तथा शोषण-नीतिके आधार पर न की जाय।

(५) वैज्ञानिक आविष्कारों का उपयोग अनियन्त्रित रूप से न किया जाय। कम से कम युद्ध के लिए तो एक बारगी ही बन्द कर दिया जाय। भौतिक सुखोंके लिए भी यथासाध्य उनका उपयोग करनेकी चेष्टा कम की जाय।

(६) ऐसे राष्ट्रीय प्रेम का जिससे अन्य राष्ट्रोंसे मनोमालिन्य होने की सम्भावना हो—प्रचार न किया जाय। उसकी अपेक्षा वास्तविक विश्वबन्धुत्वका प्रचार अधिकसे अधिक किया जाय और आर्थिक तथा राजनैतिक प्रतिद्वन्द्विताको घटानेका पूर्ण प्रयास किया जाय।

(७) आवश्यकतासे अधिक संचय करनेकी चेष्टा न की जाय। पारस्परिक स्पर्धा, ईर्ष्या, सत्ता-प्राप्ति, दूसरे की सम्पत्ति, स्वत्व और सौख्यको हड़पनेकी चेष्टा न की जाय। इसीसे व्यक्ति, समाज और राष्ट्रमें अशान्ति हो जाती है।

(८) दुर्बल, दलित जातियों और देशों पर जातिविशेषके कारण अन्याय और अत्याचार न किया जाय। न्याय, अपक्ष-पात ओर मनुष्यत्वके मूल सिद्धान्त जीवनमें अधिकसे अधिक विकसित किये जायं।

(९) बल-प्रयोग, कूटनीति, आर्थिक प्रलोभन और अन्य अन्यायपूर्ण तथा कुत्सित साधनोंसे किसी भी मत, धर्म, सिद्धान्त या विचारधाराका प्रचार न किया जाय।

धार्मिक स्वतन्त्रता प्रत्येक राष्ट्रको उपलब्ध हो। धार्मिक स्वतन्त्रताका अपहरण करना या धर्माधिकारों पर कुठाराघात करना मनुष्यके जन्मसिद्ध अधिकारों पर आघात करना है।

त्रिधर्म (प्रोटेस्टेन्ट, कैथोलिक और यहूदी) घोषणामें विश्वशान्ति के लिए जिन सात सिद्धान्तोंको निर्णीत किया है, वे सांसारिक प्रवृत्तिसे अधिक सम्बन्ध रखने वाले हैं। जैनसिद्धान्तानुसार उनका अनुमोदन या उनके प्रति सम्मति प्रदर्शित करना एक सच्चे जैन मुनिके लिये नियमविरुद्ध है, इसलिए उनका जहांतक सांसारिक प्रवृत्तिसे सम्बन्ध है, उनके बारेमें कुछ भी नहीं कहना चाहता; परन्तु इसके साथ-साथ मैं यह भी स्पष्ट करना अपना परम कर्तव्य समझता हूं कि जहांतक उनका सम्बन्ध दोष-रहित अर्थात् निरवद्य प्रवृत्ति तथा संसार-निवृत्तिसे है, वहां तक मैं उनका हार्दिक समर्थन और स्वागत करता हूं। मैं समझता हूं उक्त सातों सिद्धान्तोंमें निवृत्तिको प्रधानता दे दी जाय तो मेरे द्वारा निर्दिष्ट नौ सिद्धान्तोंमें और उनमें बहुत कुछ समानता आ जायेगी और

इसी अन्तर को दिखानेके लिए विश्व-शांति-प्रदायक नव नियमों का निर्माण किया गया है। मुझे आशा ही नहीं अपितु दृढ़ विश्वास है कि ऊपर कथित नव नियम जो कि समस्त संसारके लिये परम कल्याणकारी हैं, उनका यदि पूर्ण लाभ उठाया जायगा तो समूचे विश्वमें अशांतिका अधिकसे अधिक नाश होकर शांति का साम्राज्य स्थापित हो सकेगा।

लन्दनमें आयोजित विश्व-धर्म-सम्मेलनके अवसर पर

आषाढ़ कृष्णा ४, २००१

आदर्श राज्य

मैं विश्वास करता हूं कि यह मेरी संन्देश-वाणी अन्तः-एशियाई सम्मेलनमें सम्मिलित होनेवाले भारतीय और अभारतीय सज्जनोंके कानों तक पहुंचेगी। मैं अनुमान करता हूं कि यह पहला ही स्वर्णावसर है, जबकि हिन्दुस्तानमें समस्त एशिया एवं अन्यान्य देशोंके भिन्न-भिन्न आचार-विचार-युक्त एवं भिन्न-भिन्न भाषाभाषी प्रेक्षक और प्रतिनिधियों का इस रूपमें समारोह हुआ है। इसके आमन्त्रयिता भारतकी अन्तरकालीन राष्ट्रीय सरकारके उपाध्यक्ष पण्डित जवाहरलाल नेहरू हैं। इस सम्मेलनको बुलानेका उद्देश्य यही हो सकता है कि इस सम्मेलनके अवसर पर एशियासम्बन्धी समस्याओंकी समालोचना, संस्कृति विषयक एवं साहित्य विषयक अन्वेषण एवं परस्पर गाढ़ सम्बन्ध स्थापित किए जायें। इस मौके पर एक भारतीय धार्मिक संस्थाका प्रमुख होनेके नाते मैं चाहता हूं कि सम्मेलनमे एकत्रित विद्वानोंको एक सम्मति दूं और आशा है कि यह सबके हृदयमे अङ्कित होगी।

जहां कहीं जो कोई समस्या विषम बन जाये तो उसके अंतस्तत्त्व को ढूँढ़ निकालनेकी चेष्टा करना, उसको सुलझानेका सबसे सरल

उपाय है। राष्ट्रके भाग्य-विधाताओंने वर्तमान परिस्थितिको सरल करनेके लिए जिन २ कारणोंका अन्वेषण किया है, उनमें वह प्रमुख कारण भी उनकी नजरमें आ गया हो—इस पर मुझे संदेह है और वह कारण ऐसा है कि उसका अन्वेषण किये बिना और और अन्वेषित कारण इष्ट कार्यकी सिद्धिके लिए समर्थ हो सकेंगे, यह नहीं कहा जा सकता। अब तक जिस शान्तिके उपायकी ओर ध्यान नहीं दिया गया, वह है अध्यात्मवादकी ओर जानेवाली उदासीनता। अध्यात्मवादके सिवाय लालसाको सीमित करनेका और कोई भी समर्थ उपाय नहीं है। लालसाकी कहीं भी इयत्ता नहीं, वह अनन्त है। जैसा कि भगवान् महावीरने फरमाया है— हिमालयके समान बड़े-बड़े असंख्य चाँदी-सोनेके पहाड़ हाथ लग जायं तो भी लालची मनुष्य उससे जरा भी तृप्त नहीं होता चूंकि मानसी तृष्णा आकाशके समान अनन्त है। जब तक सब लोग स्वतन्त्र हृदयसे लालसाका अवरोध न करेंगे तब तक वे समाज़-वादका समर्थन करनेवाले हों, चाहे साम्यवादका सम्मान करने वाले हों, चाहे जनतन्त्रकी मन्त्रणा रखनेवाले हों, चाहे और और मनोवांछित वाद-विवादोंकी कल्पना करनेवाले हों, वह अमन-चैन की कामनाको सफल नहीं बना सकते। इसलिए अध्यात्मवादकी ओर निगाह डालना सबसे अधिक आवश्यक है।

अध्यात्मवादको भुलाकर केवल भौतिकवादकी ओर दौड़नेवाले उद्योगोंके साम्प्रतिक दुष्परिणामको निहार कर भी जगतकी आँखें नहीं खुलीं, यह आश्चर्यकी बात है। वैज्ञानिकों द्वारा आविष्कृत

आणविक बम आदि महाप्रलयकारी अस्त्रोंने विश्व-शांतिको अशांति के गहरे गर्त्तमें ढकेल दिया। क्या यह भौतिकवादकी विडंबना नहीं? विश्वव्यापी महायुद्ध-जनित खाद्य-पेय-परिधानीय (रोटी-कपड़े) वस्तुओंकी महान् कमीके कारण भारतमें लाखों पुरुष विलखते हुए एक दयनीय पुकारके साथ कालकवलित हुए। क्या भौतिकवाद अपनेको इस लाछनसे बचा सकता है? भारतमें, बम्बई, पंजाब आदि प्रान्त, एवं चीन पैलिस्टाइन आदि देशोंमें जिस अमानुषिक वृत्तिका आचरण किया गया और अब भी पग-पग पर उभरते हुए साम्प्रदायिक कलह दृष्टिगोचर हो रहे हैं, इन सबका मुख्य कारण जहाँतक मेरा अनुमान है, अध्यात्मवादके महत्त्वको न समझना एवं न अपनाना ही है। हम आत्मविश्वासके साथ यह निश्चित घोषणा कर सकते हैं कि जब तक लोगोंमें आध्यात्मिक रुचि उत्पन्न न होगी, तब तक विषम स्थितियोंका अन्त करना असम्भव नहीं तो असम्भवप्रायः रहेगा। अतएव जनसाधारण में उसकी रुचि पैदा करनेकी आवश्यकता है। राष्ट्रके प्रमुख नेता इस दिशामें प्रयत्न करें, ध्यान दें तो साधारण लोगोंका इस ओर सहज झुकाव हो सकता है। अध्यात्मवादका प्राणभूत सिद्धान्त धर्म है। बहुसंख्यक राष्ट्रीय विचारवाले व्यक्तियोंका धर्मसे न जाने इतना विरोध और इतना भय क्यों है? धर्म राष्ट्रोन्नति, सामाजिक उत्थान और स्वतन्त्रतामें बाधा डालनेवाला नहीं।

हालांकि धर्मके नामपर अनेक अधर्माचरण किये जा रहे हैं। स्वार्थ-लोलुपताका उत्कर्ष हो रहा है। बाह्याडम्बर, देवालय, देवा-

साधनादि ही धर्मके प्रतीक बन रहे हैं। भीषण-भीषण कलह भड़क रहे हैं और इन्हीं सब कारणोंसे धर्मके प्रति लोगोंकी घृणा है। अतएव दूधका जला छाछको फूंक फूंक कर पिये, यह अस्वाभाविक नहीं। आजकी दुनियांकी ठीक यही दशा है। धर्म-वंचनासे त्रस्त लोग आज धर्मकी असलियतसे संदिग्ध बन रहे हैं, मुंह चुराना चाहते हैं। परन्तु उन लोगोंसे मैं आवेदन करता हूं कि वे ऐसा न करें। शुद्ध धर्म अवहेलना करने योग्य नहीं, किन्तु आदर करने योग्य है। उदाहरणस्वरूप धर्मके विशुद्ध नियम जिनका भगवान् महावीरने उपदेश किया था और जैन संस्कृतिमें जिनका अवतरण हुआ था, वह केवल आत्म-विकास, एवं पारलौकिक शांतिके ही साधन नहीं अपितु ऐहिक लाभ एवं शांतिके भी असाधारण प्रतीक हैं। उनमें अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, और आत्म-नियंत्रण विशेष-रूपसे उल्लेखनीय हैं। अहिंसा-धर्मसे जैसी पारस्परिक मैत्री होती है वैसी अन्य किसी प्रकारसे भी नहीं हो सकती। अहिंसासे प्रलय-कारी कलह विलीन हो जाते हैं। देश और राष्ट्रमें चिरस्थायी शांति करनेमें अहिंसा ही समर्थ है। अपरिग्रहवादसे समाजवाद आदि वादोंके सब स्वप्न साकार हो सकते हैं। आत्म-नियंत्रणसे क्षमा, सहनशीलता, नम्रतादि सद्गुण विकास पाते हैं। उससे पारस्परिक ईर्ष्या सहज ही में क्षीण हो जाती है। इन नियमोंके पालनेसे जो लाभ होता है, वह प्रत्यक्ष है। हाथ कङ्गनको आरसी क्या? आज जो हिन्दुस्तान स्वतन्त्रताके द्वार पर है, यह अहिंसाका माहात्म्य नहीं तो किसका है? इतन बड़ा विशाल राष्ट्र

इस प्रकार कोई भीषण नर-संहार किए बिना एवं खून बहाए बिना सदियोंकी परतन्त्रतासे मुक्त हो रहा है, क्या यह एक अभूतपूर्व, अदृष्ट एवं अश्रुतपूर्व घटना नहीं ? पर अहिंसा देवीकी अपार महिमाके सामने यह कुछ भी नहीं। यह तो केवल भौतिक मुक्ति है। वह तो आत्ममुक्ति रखनेकी क्षमता रखती है। अहिंसाके इस साक्षात् फलको देखकर अहिंसा-धर्ममें रुचि बढ़ानी चाहिये। अध्यात्मवादके मार्गका अवलोकन करना चाहिये।

सब लोग स्वतन्त्रता और स्वराज्यके इच्छुक हैं। इनको पानेके लिए यत्नशील हैं। पर उन्हें सोचना चाहिये कि सौराज्यको पाये बिना स्वराज्यसे कुछ नहीं बनता। वस्तुवृत्त्या सौराज्य ही स्वराज्य है। सौराज्यकी परिभाषा निम्न प्रकार है:—

(१) सौराज्य वह है कि देशवासी लोग अपने अपने शुद्ध धर्माचरणमें पूर्ण स्वतंत्रताका अनुभव करें।

(२) सौराज्यका यह अर्थ है कि लोगोंके आपसी झगड़ोंका अंत हो जाये।

(३) सौराज्यका अर्थ है कि देशवासी जन हिंसक, असत्यवादी, चोर, व्यभिचारी, अर्थ-संग्रहके लोलुप, दाम्भिक, दूसरोंकी निन्दा करनेवाले एवं दूसरेकी उन्नति पर जलनेवाले न हों।

(४) सौराज्य यह है कि सदाचारी, अध्यात्मवादके प्रचारक, पारमार्थिक उपकारके कर्णधार, दुराचारसे भय खानेवाले साधु पुरुषोंका आदर हो।

(५) सौराज्यका अर्थ यह है कि धर्मके नाम पर ठगनेवाले,

वेषाडम्बरके द्वारा अत्याचार फैलानेवाले विचारोंका प्रचार न हो।

(६) सौराज्यका अर्थ है कि राजकर्मचारियों एवं व्यापारियोंकी नीति शोषण करनेवाली न रहे।

(७) सौराज्य वह है, जिसमें एक दूसरेके प्रति घृणा फैलानेकी चेष्टा न की जाय।

(८) सौराज्यका अर्थ है—लोग उच्छृंखल न बनें, गुरुजनोंका अविनय न किया जाय। अन्यायका आचरण न किया जाय। कोई किसीके द्वारा तिरस्कारकी दृष्टिसे न देखा जाय।

(९) सौराज्यका अर्थ है—जिसमें धर्मानुकूल अधिकार सबके समान रहें। अमुक २ जातिसे—कुलसे—ऐश्वर्यसे महान् हैं अतः वे धर्मके अधिकारी हैं ; अमुक अमुक जाति कुल ऐश्वर्यसे हीन हैं ; अतः वे धर्मके अधिकारी नहीं हैं—ऐसी भावनाका अन्त हो जाय।

उक्त संस्कृतिका अनुसरण करनेवाला राज्य ही सौराज्य हो सकता है। ऋषभदेवके शासनकालीन सौराज्यका एक कविने जो चित्र खींचा है, वह अनूठा एवं आदर्श है। वह इस प्रकार है—ऋषभदेवके सौराज्यमें सजातीय भय—जैसे मनुष्यको मनुष्यसे होनेवाला भय, विजातीय भय—जैसे मनुष्योंको पशुओंसे होनेवाला भय, धनकी रक्षाके लिये होनेवाला भय, आकस्मिक भय, आजीविका-भय, मृत्युका भय, अकीर्ति-भय, यह सात प्रकार का भय न था। (२) चूहे आदि क्षुद्र जीवोंके उपद्रव, प्लेग

आदि सामूहिक रोग, अति वर्षा, अवर्षा, अकाल, स्वराष्ट्रभय, और परराष्ट्र-भय इत्यादि आतंकवादि वातावरणका अभाव था। (३) जुआ, मांस-भक्षण, मद्यपान, वेश्यागमन, परस्त्री-गमन, चोरी और मूक पशु-पक्षियोंकी निर्मम हत्या-शिकार, इन सात महा दोषोंसे लोग घृणा किया करते थे। (४) कुल-वधू अपनी सासका, पुत्र स्वपिताका, पत्नी अपने पतिका, सेना अपने सेनानीका, शिष्य अपने गुरुका अविनय नहीं करते थे। (५) अपने वृद्ध मा-बाप, छोटे भाई-बहिन, बालक-बालिकाएं, अतिथि, निजाश्रित नौकर, नौकरानियोंको भोजन कराये बिना स्वयं भोजन नहीं करते थे। (६) उस सौराज्यमें दुर्जनकृत तिर-स्कार, स्त्री-पुरुषोंके दुराचार, अकाल-मृत्यु, धनका नाश आदि २ कारणोंसे लोग आंसू नहीं बहाते थे। (७) उस सौराज्यकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उसमें एक भी भिखमंगा नहीं था—। रोटी कपड़ेका भूखा नहीं था। (८) भिन्न २ आचार-विचारवाले मनुष्य भी आपसमें वैर-विरोध नहीं रखते थे। इस प्रकार के सौभाग्यकी स्थितिको पाकर ही लोग यह कह सकते हैं कि हमें स्वराज्य मिल गया। अन्यथा स्वराज्य और परराज्यमें अन्तर ही क्या? अन्ततोगत्वा एक बार फिर मैं सबसे अनुरोध करता हूं कि इस नवयुगके निर्माणमें, राष्ट्र-व्यवस्थाके विधानमें, स्वराज्य की प्राप्तिमें अध्यात्मवादको नहीं भुला देना चाहिये। भारत-वासियोंसे तो मेरा विशेष अनुरोध है।

चूंकि अध्यात्मवाद भारतीय जन एवं भारत-भूमिका प्राण है।

भारतीय संस्कृति धर्म-प्रधान है। अनेकों अध्यात्म-शिरोमणि महात्माओंने अवतार धारण कर इस भारत भूमिको पवित्र किया था। अब भी अनेक तपस्वीमूर्धन्य मुनिजन भारतकी पुण्य-भूमिमें परोपकार कर रहे हैं—अध्यात्मवादके द्वारा जनताको सुखका प्रशस्त पथ दिखला रहे हैं। अतएव किसी विदेश-विशेषकी धर्मविरोधी नीतिको निहार कर अपने पूर्वजोंकी, अपनी एवं अपनी मातृभूमिकी महत्त्वशालिनी—सुखद संस्कृतिको नहीं भुलाना चाहिए और न उसके विषयमें उदासीन ही रहना चाहिए। यही मेरा आवेदन है। स्यात् पुनरुक्ति न होगी, यदि पूर्व पंक्तियोंके मौलिक विचार सूत्रबद्ध कर दिये जायं :—

१.—राजनैतिक निर्माणमें भी अध्यात्मवादका अनुसरण करना चाहिए।

२.—अध्यात्मवादके प्राणभूत धर्मकी निरन्तर उपासना करनी चाहिए।

६—समाचार-पत्र - सम्पादकों, राजनैतिक नेताओं एवं धर्म-गुरुओंको भी वैसा प्रचार नहीं करना चाहिए, जिससे साम्प्रदायिक कलहको प्रोत्साहन मिले।

७—शिक्षाका मुख्य उद्देश्य आत्म-विकास होना चाहिए। उसमें भी आत्म-नियन्त्रणकी मुख्यता रखी जानी चाहिए।

८—पारस्परिक विचारोंकी विषमता होनेपर भी घृणा फैलानेकी नीतिको नहीं अपनाना चाहिए।

६—धर्मके नाम पर अधर्माचरणका प्रचार न हो और अधर्माचरणकी रुकावटके साथ धार्मिक स्वत्वोंको बाधा न पहुंचे, वैसा प्रयत्न होना चाहिए।

१०—वर्ण, जाति, स्पृश्य-अस्पृश्य आदि भावसे किसीका भी तिरस्कार नहीं करना चाहिए, घृणाकी दृष्टिसे नहीं देखना चाहिए।

११—सौराज्यके बिना स्वराज्यकी कोई कीमत नहीं, इसकी वास्तविकताको हर वक्त कूतना चाहिए।

इस प्रकार सामूहिक सद्भावनाके आधार पर व्यक्ति और समष्टि सबके हितोंका निर्माण हो सकता है; अन्यथा नहीं।

[ता० २३-३-४७ को दिल्लीमें प० जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में आयोजित एशियाई कान्फ्रेंस के अवसर पर]

धर्म-संदेश

<> जरा जाव न पीलेइ, वाहि जाव न वड्ढइ ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥

भगवान् महावीरने धर्मको सबसे अधिक आवश्यक जानकर ही इस प्रकार उपदेश किया था कि जबतक बुढ़ापा न आये, शरीरमें रोग न बढ़े, इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण न पड़े, उससे पहले ही धर्म करनेको सावधान हो जाना चाहिए। इस उपदेश-गाथाका माल्यकुसुमकी भांति जनताने स्वागत किया, अपने जीवनको धार्मिक बनाकर संसार-सिन्धुसे तरनेमें समर्थ हुई—कष्ट परम्परासे छुटकारा पाया। आज भी अनेक पुरुष उस दुःख परम्पराके पार पहुंचनेकी तैयारी कर रहे हैं। परन्तु समयकी विचित्रतासे ऐसे व्यक्ति भी प्रचुर मात्रामें होते जा रहे हैं; जो धर्मकी मौलिकता एवं महत्ताको मूलसे ही नहीं पहचान रहे हैं, और

<> दशवैकालिक अ० ८ गा० ३६

धर्मको विश्व-उन्नतिमें बाधा डालनेवाला मान रहे हैं। उनकी वाणी में, लेखनी में, प्रचार में, कार्योंमें एक ही लक्ष्य रहता है कि "ज्यों-त्यों धर्मका अन्त हो जाये—धर्मका अस्तित्व मिटाकर ही हम सुखकी साँस ले सकते हैं।" यद्यपि इस प्रकारके निःसार विचार आर्य्य-भूमि एवं आर्य्य-संस्कृतिमें टिक नहीं सकते, जल बुद्बुद्की तरह बिलबिला जाते हैं। तथापि वे वैसा किये विना नहीं रहते—मनके मोदक खाये विना नहीं रहते। इस स्थितिमें भी यह अत्यन्त हर्षका विषय है कि धर्मकी जड़को मजबूत करनेके लिए जगह-जगह पर धार्मिक सम्मेलन आयोजित किए जा रहे हैं। धर्मकी असलियत पर लोगोंका उत्साह बढ़ रहा है। थोड़े समय पहले ही (मार्च महीनेमें) दिल्लीमें 'सत्यान्वेषक समिति' ने 'विश्व-धर्म-सम्मेलन' का आयोजन किया था और अब उसके निकट ही "हिन्दी-तत्व-ज्ञान-प्रचारक-समिति' द्वारा संयोजित धार्मिक समारोह अहमदाबादमें होने जा रहा है। इस अवसर के लिए मैं एक जैन संस्थाके मुख्य आदर्शोंको सामने रखते हुए धर्म विषय पर कुछ प्रकाश डालना चाहता हूं।

मैं धर्मके प्रचारार्थ किये जानेवाले निरवद्य प्रयत्नोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा करता हूं और इसके साथ-साथ सलाह देता हूं कि सिर्फ धार्मिक पुरुषोंका सम्मेलन एवं उनकी सम्मतियोंका एकीकरण ही धर्म-वृद्धि, धर्म-रक्षा एवं प्रचारके पर्याप्त साधन नहीं, प्रत्युत इसके साथ-साथ धर्मकी मौलिकता, असलियत एवं उपयोगिताका परीक्षण होना चाहिए। प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें धर्म-तत्त्वको ऊंचा

देना चाहिए और ऐसी खूबीके साथ श्रद्धा पैदा कर देनी चाहिए, जिससे समूची दुनिया धर्मकी आवश्यकता एवं उपयोगिता महसूस कर सके। इस प्रकारके कार्य ऐसे सम्मेलनोंके अवसर पर किये जायेंगे, तभी हम गौरवके साथ कह सकेंगे कि धार्मिक सम्मेलनोंके उद्देश्य आज सफल होने जा रहे हैं और ये प्रयास सर्वांगीण सफल हो रहे हैं।

तो कमसे कम उसके नाम पर विरोधका प्रचार तो न करे; उसकी महिमा न बढ़ा सके तो कमसे कम उसे बदनाम तो न करे।

सहिष्णुता एवं क्षमा धर्मके मूल गुणोंमें से है। परन्तु खेद है कि आजकी दुनियां इस ओर सर्वथा उदासीन है। जबतक सहनशीलता एवं क्षमाकी भावना न आ जाए तब तक शान्ति कैसे सम्भव है? क्षमाशील व्यक्ति सब जगह समर्थ व सफल होते है। इस प्रसंगमें एक जैनाचार्यका उदाहरण सर्व साधारणके लिए अधिक उपादेय है। जिसमें हम सहनशीलताकी वास्तविकता पा सकते हैं। जिन्होंने भांति २ के कष्ट एवं मत-विरोध सहकर भी एक आदर्श साधु-संस्थाकी स्थापना की। उन महान् क्रांतिकारी एवं नव जागृतिके प्रसारक महापुरुषका नाम था—आचार्य श्रीमद् भिक्षु स्वामी और उस आदर्श संस्थाका नाम है श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थ; और यह संस्था अबतक उसी लक्ष्य पर डटी हुई आज भी धर्म-प्रचारका कार्य कर रही है। इसका उद्देश्य दुनियाके सामने जैन धर्मके पुनीत एवं मंगलमय आदर्शोंको रख जनताके जीवन - स्तरको उन्नत बनाना एवं विश्वमें शान्ति-प्रसार करना है। इस संस्थाने आज पर्यन्त किसी भी व्यक्ति, जाति एवं धर्म पर आक्षेप नहीं किया। इसका काम लोगोंके सामने अपने अभिमत सिद्धान्तोंको रखना ही रहा है। उनको यदि कोई माने तो उसकी इच्छा है और न माने तो उसके लिए कोई बल-प्रयोग नहीं। क्योंकि धर्मका आचरण स्वतन्त्र हृदयसे हो

सकता है, हठसे नहीं। उस महर्षिने भगवान् महावीरकी वाणी को दुहरा कर यह घोषणाकी थी कि धर्म और जबरदस्तीका कोई सम्बन्ध नहीं है। जहां कहीं अन्यायको मिटानेके लिए बल-प्रयोग किया जाता है, वह राजनीति है, धर्म नहीं। धर्म सत्य उपदेशकी अपेक्षा रखता है, विवशताकी नहीं। जहां कोई मनुष्य अधार्मिकको भी विवश करके धार्मिक बनानेकी चेष्टा करता है, वह भी धर्म नहीं। चूंकि जहां विवशता है, वहां स्पष्ट हिंसा है और जहां हिंसा है, वहां धर्म कैसे ? धर्म तो व्यक्तिकी सत् प्रवृत्ति पर ही निर्भर रहता है। अतएव धर्म और राजनीति दो अलग अलग वस्तुएँ हैं। बहुधांशमें इनका सम्मिश्रण ही आजके दुःखद वातावरणका हेतु बन रहा है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आज भारतवर्षमें सर्वत्र दिखाई दे रहा है। बंगाल, बिहार एवं पंजाबके हत्याकांड इसीके परिणाम हैं। अब भी समझनेकी आवश्यकता है। राजनीति एवं धर्मके कार्य-क्षेत्रकी पृथक्ताका बोध होना जरूरी है। अन्यथा धर्मके प्रति घृणा हुए बिना नहीं रहेगी। चूंकि राजनीतिमें स्वार्थके संघर्ष होते रहते हैं और धर्म केवल निःस्वार्थ साधनाकी वस्तु है। स्वार्थी पुरुष राजनीतिमें उसका ऐसा दुरुपयोग कर बैठते हैं कि वैसी हालतमें धर्मके प्रति अरुचि हो जाय तो वह अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती। यदि भारत-वासी क्षमा, सहिष्णुता और शान्तिकी प्रतीक अहिंसाको न भूलें तो भारतवर्ष पूर्ण शान्ति एवं वास्तविक स्वराज्यका अनुभव कर सकता है।

मैं विश्वास करता हूं कि यदि विचारकगण इस सिद्धान्तकी समीक्षा करेंगे तो अवश्य ही उन्हे इसमें समताका बीज मिलेगा। धर्मके नाम पर आज जो अशान्ति—कलह फैला हुआ है, उसे रोकनेके लिए यह सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

धर्मकी मीमांसा

दुनियामें बहुतसे ऐसे व्यक्ति है, जो धर्मकी कनई आवश्यकता नहीं समझते। प्रत्युत उसे तीव्र तिरस्कारकी दृष्टिसे देख रहे है। जबकि वास्तवमे धर्म सदा और सब कामोंमें अत्यन्त आदर-पूर्वक अपेक्षा करने योग्य है। और कई ऐसे भी व्यक्ति हैं, जो धर्म शब्दके वैज्ञानिक अर्थ और परिभाषाका ठीक-ठीक निर्णय करनेमें असमर्थ है। वे 'धर्मः सर्गो निसर्गवत्' इस कोष-वाक्यकी दुहाई देकर वस्तु-स्वभावको ही धर्म मान रहे है। उष्णता अग्निका धर्म है, ठण्डक पानी का धर्म है, रोटी खाना भूखे का धर्म है, पानी पीना प्यासे का धर्म है, चोरी करना चोर का धर्म है, मांस खाना मासहारीका धर्म है। इस प्रकार स्वभाववाची धर्म शब्दको आत्म-साधनाकी श्रेणीमें रख कर धर्मकी विडम्बना कर रहे है।

कई मनुष्य जो जिसका कर्त्तव्य है वही उसका धर्म है, कर्तव्यसे पृथक् कोई भी धर्म नहीं है, इसके आधार पर यों कहते है कि जिस व्यक्तिका, जिस जातिका और जिस संस्था का जो कर्त्तव्य है, उन्हे वही करते रहना चाहिए। अपने कर्त्तव्यसे च्युत होनेवाले मनुष्य धर्म-भ्रष्ट हो जाते है। क्या वे ऐसा कहनेवाले शोषण, कलह एवं युद्ध आदिको प्रोत्साहन देते

हुए धर्मकी अवहेलना नहीं कर रहे हैं ? कई लोग जैसे-तैसे तृप्ति पहुंचानेके साधनको ही धर्म मान रहे हैं—सिर्फ ऐहिक सुख-शांति की अभिसिद्धिके लिए ही जी जानसे यत्न कर रहे हैं। आवश्यकताके उपरान्त धन-धान्यका संग्रह करनेको जुट रहे हैं। केवल स्वार्थ-सिद्धिके लिये दूसरोंके कष्टोंकी उपेक्षा करते हुए धर्म शब्दको कितना दूषित बना रहे हैं। परन्तु सच तो यह है कि शान्तिके लिये किसी दूसरेको कष्ट पहुंचाना धर्म नहीं हो सकता। धर्मके नाम पर बड़े बड़े धर्मालय हिंसाके केन्द्र बन रहे हैं। विविध देशभूषासे सुसज्जित स्वार्थपोषक धर्म-ध्वजियोंकी कोई सीमा नहीं है। इस प्रकार धर्मकी विडम्बना होते देखकर कौन धार्मिक व्यक्ति खेद-खिन्न नहीं होता और किसको धर्मके नामसे ग्लानि नहीं होती ? इस विषय पर इस छोटेसे निबन्धकी थोड़ीसी पंक्तियोंमें कितना लिखूं। पर पण्डितजन अल्पमें ही अनल्प भावको ताड़ सकेंगे। यद्यपि स्वभाव धर्मका नाम हो सकता है तथापि आत्मविकासके लिये हमें जिस धर्मकी आवश्यकता है, वह धर्म वही है जो आत्माके स्वभाव—ज्ञान, दर्शन आदि आत्म-गुणोंको प्रकट करनेवाला हो, न कि किसी वस्तुका जो कोई स्वभाव है, वही धर्म है। कर्त्तव्य धर्म है, यह भी हम कह सकते हैं, पर वह कर्त्तव्य आत्मविकासका साधन होना चाहिए। जो कर्त्तव्य प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक जातिके भौतिक स्वार्थोंसे सम्बन्धित है और प्रत्येक परिस्थितिमें परिवर्तनशील है, वह धर्म नहीं। स्पष्ट शब्दोंमें यों कह सकते है कि जो धर्म है, वह कर्त्तव्य है, और जो कर्त्तव्य

है, वह धर्म है भी और नहीं भी।

जो शान्तिका साधन है, वह धर्म है, यह भी ठीक है। पर पारमार्थिक शान्तिका साधन ही धर्म है। शान्ति मात्रका साधन धर्म नहीं हो सकता।

भगवान महावीर की वाणी में धर्म की परिभाषा इस प्रकार है :—

*"धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवावि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सयामणो॥"

अहिंसा-संयम-तपस्या-रूप जो आध्यात्मिक विकासका साधन है, वही धर्म है। इन तीनों (अहिंसा, संयम, तपस्या) से अलग कोई भी कार्य धर्मकी परिधिमें नहीं समा सकता।

अहिंसा क्या है ?

हिंसाकी विरतिका नाम अहिंसा है। मनसे, वाणीसे, शरीरसे, कृत-कारित-अनुमतिसे, त्रस-स्थावर, इन दोनों प्रकारके प्राणियोंका निजकी असत् प्रवृत्तिके द्वारा प्राणवियोग करनेका नाम हिंसा है। वह चार प्रकारकी है : —

१—निरपराध जीवोंकी किसी प्रयोजनके बिना संकल्पपूर्वक जो हिंसाकी जाती है, वह संकल्पजा हिंसा है।

२—अपना या पराया मतलब साधनेके लिए जो प्राण-वध किया जाता है, वह स्वार्थ-हिंसा है।

---

* दश० अ० १ गा० १

३—कृषि, वाणिज्य आदि गृहसम्बन्धी कार्योंमें जो आवश्यक हिंसा होती है, वह अनिवार्य हिंसा है।

४—अपनी असावधानीसे जो हिंसा होती है, वह प्रमाद-हिंसा है।

मन, वाणी एवं शरीरसे कृत-कारित-अनुमतिसे चारों प्रकार की हिंसाका त्याग करनेसे ही पूर्ण अहिंसा हो सकती है, अन्यथा नहीं। यद्यपि गृहस्थोंके लिए पूर्ण हिंसाको त्यागना असंभव है, तो भी कम-से-कम संकल्पजा हिंसाका परित्याग तो अवश्य ही करना चाहिए। क्योंकि जितने पारस्परिक संघर्ष और साम्प्रदायिक कलह होते हैं, वे प्रायः संकल्पी हिंसासे ही पैदा होते हैं। संकल्पी हिंसा ही प्रतिशोधकी भावनाको जन्म देती है। उसको सफल बनानेके लिए पग-पग पर विरोधियोंका छिद्रान्वेषण करना जरूरी बन जाता है। उससे आत्मवृत्तियां मलिन बनती हैं और ऐसी दशामें सारी गतिविधि पतनकी ओर झुक जाती है। अतएव धार्मिक गृहवासियोंके लिए संकल्पी हिंसाका परित्याग तो नितान्त आवश्यक है। जैसे—

पढ़मं अणुव्वयं-थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं तसजीवे बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिय-पंचिंदिये संकप्पओ हणण-हणावण-पचक्खाणं" इत्यादि।

(पहिले अहिंसा अणुव्रतमें स्थूल प्राणातिपातसे विरत होता हूं, त्रस जीव—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीवोंको संकल्पपूर्वक मारने-मरवानेका प्रत्याख्यान करता हूं)

हिंसा और अहिंसाके प्रति धार्मिक दृष्टिकोण यह है कि जो संकल्पी हिंसाका त्याग है, वही धर्म है और जो शेष हिंसाओंका आचरण है, वह धर्म नहीं है। यदि अनिवार्य हिंसाको अधर्म माना जाय तो फिर निर्बाध रूपसे दुनियांका व्यवहार कैसे चल सकेगा, ऐसी शंका करना बिल्कुल व्यर्थ है—क्योंकि "पूर्ण अहिंसा से दुनियांका काम नहीं चल सकता"—ऐसा कहनेवालोंको यह जवाब है कि इसीलिए तो जगत् में स्वार्थ-हिंसा और अनिवार्य हिंसा होती है। पर इसका मतलब यह नहीं कि सांसारिक कार्योंको निभानेके लिए की जानेवाली हिंसा अहिंसा हो जाय। यह तीन कालमें भी नहीं हो सकता। हां, यह हो सकता है कि इन हिंसाओंके लिए गृहस्थ अपनेको विवश माने और अनिवार्य हिंसाके प्रति अपने दिलमें खेद करता रहे अर्थात् उसमें लिप्त न हो, अनासक्तकी भांति रहे। यदि अहिंसाके इस सिद्धान्तको आंशिक रूपसे भी अपना लिया जाय तो विश्व-मैत्रीके प्रसारमें बहुत सहायता मिल सकती है।

संयम क्या है ?

संयमका अर्थ है आत्मवृत्तियोंको रोकना। संयम आत्म-साधनाके आध्यात्मिक मार्गमें जितना आवश्यक और कल्याण-कारी है, उतना समाजनीति एवं राजनीतिमें भी है। फिर भी परमार्थदृष्टिसे जैसा संयम साधा जा सकता है वैसा अन्य किसी भी उपायसे नहीं।

जीवनकी आवश्यकताएं संयमकी उतनी बाधक नहीं, जितनी भोग और ऐश्वर्यकी आकांक्षायें हैं। जबतक लोग धनकुबेरोंको 'महान्' मानेंगे तबतक जगत्की स्थिति निरापद नहीं हो सकेगी। आजसे हजारों वर्ष पहले लोग धनियोंकी अपेक्षा संयमी पुरुषोंको अधिक महान् मानते थे। यही तो कारण है कि उस समयके धनिक अभिमान और स्वार्थकी पराकाष्ठा तक नहीं पहुंच पाते थे और न जनसाधारणको अपनेसे तुच्छ या पददलित ही मानते थे। सबके दिलोंमें आपसमें भ्रातृत्वपूर्ण सम्मान था। परन्तु आजकी समूची परिपाटी ठीक उससे विपरीत है। अतएव आज साधारण लोग श्रेणी-वर्गका अन्त करनेको तुले हुए हैं। जगह २ धनिक और निर्धनोंके बीच संघर्ष हो रहे हैं। इस दशामें भी धनी एवं निर्धन इन दोनोंमेंसे एक भी धनकी लालसा छोड़नेको तैयार नहीं है। "धनी ही महान् है—अर्थात् धन ही बड़प्पनका मान-दण्ड है" यह दोष सब जगह देखा जा रहा है। "संयमी पुरुष ही महान् है" इस बातको जबतक लोग नहीं समझ लेंगे, तबतक लालसाको कम करनेका सिद्धान्त लोक-दृष्टिमें उपादेय नहीं हो सकेगा। और जबतक लालसा कम न होगी, तबतक आवश्यकतायें बढ़ती रहेंगी। आवश्यकताकी वृद्धिमें सुखकी कमी रहेगी। क्योंकि अधिक आवश्यकतावाले व्यक्ति समाज या राष्ट्र पर आत्मनिर्भर नहीं हो सकते और आत्म-निर्भर हुए बिना दूसरेकी अपेक्षा रखना नहीं छूट सकता। जबतक दूसरोंकी अपेक्षा रहती है, तबतक शोषण और दमन हुए बिना नहीं रह

सकते और इन दोनों (शोषण और दमन) में सबके सब 'वाद' यानी सिद्धान्त अपना अस्तित्व खो बैठते हैं — मिट जाते हैं। इसलिये अपने और पराये कल्याणकी कामना करनेवाले व्यक्तियों को सबसे पहले संयमका अभ्यास करना चाहिए। उसमें भी धार्मिक पुरुषको एक विशेष खयाल रखना चाहिये कि वह संयम-धर्म ऐहिक फल-प्राप्तिकी भावनासे न पाले अर्थात् उसके द्वारा पुण्य, स्वर्ग एवं भौतिक सुख पानेकी अभिलाषा न रक्खे। धर्म एक वास्तविक शान्तिका साधन है। इसीलिये सब लोगोंको धर्म के द्वारा केवल लौकिक प्रयोजन साधनेकी भावनाको कतई त्याग देना चाहिए?

तपस्या क्या है ?

राग-द्वेष-प्रमाद-स्वार्थ-रहित जितने आचरण है, वह सब तपस्या है। उपवास, प्रायश्चित्त, विनय, सेवा, स्वाध्याय, ध्यान आदि आदि तपस्याके अनेक भेद हैं। जिनका जीवन तपस्यासे ओतप्रोत है, वही मानव महात्मा एवं परोपकारी हो सकते है। अपनी खुदकी आत्माकी शुद्धि किए बिना कोई भी मनुष्य दूसरों का उपकार नहीं कर सकता। तपस्यामय जीवन स्वभावसे ही संतुष्ट होता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्यको अपना जीवन तपस्या से ओत-प्रोत कर डालना चाहिए। अन्यथा सिर्फ जिस तिस सिद्धान्तकी छाप लगने मात्रसे कोई भी मनुष्य धार्मिक नहीं बन सकता। धर्म किसी वाद-विवादमें नहीं रहता। जिनके हृदय तपस्यासे प्लावित है, वहीं उसका स्थान है। भगवान् महावीरकी

वाणीमें यही अहिंसा-संयम-तपस्या-रूप धर्म है और यही प्रत्येक आत्माको पूर्ण स्वतन्त्र एवं सुखी बनानेवाला है। अस्तु—मैं समझता हूं—पूर्व पंक्तियोंके चुने हुए परिणामों पर एक सरसरी निगाह डालनी उचित होगी। जैसेः—

१ जीवनके पूर्वार्द्धमें ही धर्माचरण शुरू कर देना चाहिए।

२ धर्म जीवनकी उन्नतिमें बाधा डालनेवाला नहीं।

३ सत्य धर्मके प्रचारार्थ किये जानेवाले निरवद्य प्रयत्न सर्वदा प्रशंसनीय हैं।

४ धर्मकी असलियतमें कभी भी अनेकता नहीं हो सकती।

५ धर्मके नाम पर कहीं भी संघर्ष नहीं होना चाहिये।

६ धर्म उपदेशग्राह्य है। वह बलपूर्वक नहीं कराया जा सकता।

७ धर्म अन्यायको नहीं सह सकता, वैसे ही राजनीति भी। पर इन दोनोंमें अन्तर यही है कि धर्म अन्यायको हृदयकी शुद्धिसे निवृत्त करता है और राजनीतिमें सभी सम्भव उपायोंका प्रयोग करना उचित माना गया है अतः धर्म और राजनीति दो पृथक् वस्तुएं हैं।

८ "आप इसे मार रहे हैं, यह नहीं हो सकता ; या तो आप इसे न मारें अन्यथा इससे पहले मुझे मार डालें"—इस प्रकार किसीको विवश करना सांसारिक उदारता भले ही हो पर विशुद्ध अहिंसा नहीं कही जा सकती।

९ वस्तुका स्वभाव ही धर्म नहीं है।

१० समस्त कर्त्तव्य ही धर्म नहीं—धर्म तो कर्त्तव्य है ही।

११ शान्तिके साधन मात्र ही धर्म नहीं, किन्तु आत्म-शान्ति के साधन ही धर्म है।

१२ धर्मके लक्षण, अहिंसा, संयम और तपस्या हैं।

१३ अनिवार्य्य हिंसा भी हिंसा है।

१४ संकल्पजा हिंसा अशान्तिका प्रमुख कारण है।

१५ अहिंसा आत्माके असली स्वरूपको पानेके लिए है।

१६ अनिवार्य हिंसामें भी अनुरक्त नहीं होना चाहिए।

१७ धर्म त्यागप्रधान है।

१८ 'महान्' संयमी पुरुषको ही मानना चाहिए, असंयमीको नहीं।

१९ आवश्यकताओंकी कमी करनी चाहिए।

२० धर्म निःस्पृह भावनासे करना चाहिए, बदला पाने याने ऐहिक प्रतिफल पानेकी भावनासे नहीं।

२१ उपदेशकोंको पहले अपनी आत्माकी शुद्धि कर लेनी चाहिए।

अन्तमें मेरी यह मंगल कामना है कि सब लोग धर्मकी वास्तविकताको पहचानें। उसका अनुशीलन करें और सुखी बनें।

[हिन्दी तत्व-ज्ञान-प्रचारक-समिति अहमदाबाद द्वारा
ता० ११-३-४७ को आयोजित धर्म-परिषद्के अवसर पर]

धर्म-रहस्य

विश्व-धर्म-सम्मेलनमें सम्मिलित सज्जन इस मेरे धर्म विषयक संदेश पर गौर करें। इसके अन्तर्निहित रहस्यको विचारें, यही मेरा संदेश या विशेष अनुरोध है। जिस धर्मकी रक्षा और वृद्धि के लिए प्रतिवर्ष अनेकों सम्मेलन सम्पन्न होते हैं, जिसके लिए महिमाशाली संत लोग प्रतिक्षण प्रयत्न करते हैं, जगन्मान्य उदार कवि जिसके गुणगौरवकी गाथा गाते हैं, वही धर्म सबका रक्षक है और सब मंगलोंमें प्रमुख मंगल है। जैसे "धम्मो मंगल मुक्किट्ठं" अर्थात् धर्म उत्कृष्ट मंगल है।

प्रत्येक प्राणीके हृदय-प्रांगणमें धर्मका प्रसार करनेके लिए अध्यात्म शिरोमणि विद्वन्मान्य महात्माओं ने स्वनामधन्य पवित्र जन्म धारण किया था। स्वभावसे सन्तुष्ट और परोपकार-रसिक उन महात्माओंने अपनी विषद् वाणीसे उपदेश किया था। जैसे—

१—"सब प्रकारसे सब जीवोंको न मारनेकी वृत्तिका नाम अहिंसा है।"

१—"सर्वं जीवेष्वजिघांसुवृत्तिरहिंसा"

२—"आत्माही अपने सुख-दुखका निर्माण और नाश करती है। सत्कार्य करने वाली आत्मा ही अपना मित्र है और बुराईमें प्रवृत होनेवाली आत्मा ही अपना शत्रु है।"

३—"प्राणी मात्रकी हिंसा नहीं करनी चाहिए।"

४—"सब जीव जीना चाहते हैं, मरना नहीं।"

५—"मेरी सब प्राणियोंके साथ मैत्री है, किसीके साथ मेरा वैर-विरोध नहीं है।"

६—"सब सुखी बनें"

७—"समूचा संसार ही मेरा कुटुम्ब है।"

८—'सब प्राणियों पर अपने जैसा व्यवहार करना चाहिए।'

९—"आत्मदमन करनेवाला सुखी होता है।"

१०—"मेरे लिए यह उचित है कि मैं संयम, त्याग और तपके द्वारा आत्मदमन करूं। यह मेरे लिए अनुचित है कि बन्धन और वध द्वारा मैं दमन किया जाऊं।"

इत्यादि इस उपदेश वाणीको फूलोंकी तरह सिर पर धारणकर असंख्य भद्र मनुष्योंने अपने जीवनको उन्नत बनाया था। इस

२—अप्पा कत्ता विकत्ताय, सुहाणय दुहाणय। अप्पामितममित्त च दुप्पठिय सुप्पठिय' ३—सव्वे पाणा महतव्वा' ४—सव्वे जीवावि इच्छति जीविउ न मरिज्जिउ' ५—मिति मे सव्व भूएसु वैर मज्ज न कैणइ' ६—'सर्वे भवन्तु सुखिन.' ७—'वसुधैव कुटुम्बकम्' ८—'आत्मवत् सर्व भूतेषु' ९—'अप्पादत्तो सुही होइ'

१०—'वर मे अप्पादन्तो संयमेण तवेण य नाहं परेहिदम्मन्तो बधणेहि वहेहिय।'

ऐतिहासिक वाणीको सुनकर एवं कितने सज्जनोंकी वर्तमानकालीन वैसी ही धार्मिक प्रवृतिको देखकर एक ओर मेरा मन आनन्द-विभोर हो रहा है तो दूसरी ओर अधर्मके निपुण प्रचारक मानवों की अविचारपूर्ण प्रवृत्तियोंसे की हुई धर्मकी महान् अवहेलनाको देखकर उससे कहीं और अधिक खिन्न हो रहा है। उनकी उदात्त घोषणाके अनुसार उनके जीवन-विकास, सामाजिक उन्नति एवं राष्ट्रीय स्वतन्त्रतामें बाधा डालनेवाला एकमात्र धर्म ही है। धर्मके कारण ही साम्प्रदायिक विषमता पैदा होती है और उसके लिए निठल्ले संत-महंत आपसमें कलह करते हैं, लड़ते-झगड़ते और वादविवाद करते हैं। हमें ऐसे धर्मकी कोई चाह नहीं, जिससे हम हमारी ऐहिक शांतिके अस्तित्वको मृत्युके निकट पा रहे हैं। इस परिस्थितिमें कौन मनुष्य उसके द्वारा प्राप्त होनेवाली पारलौकिक शांति पर विश्वास कर सकता है? अतः शीघ्रातिशीघ्र येन-केन प्रकारेण उसका मूलोच्छेद करनेसे ही हमारा भला होगा। कई मनुष्योंने इस कार्यके लिए उत्साह और तत्परताके साथ अपना जीवन अर्पण कर रखा है।

खेद! यह कलिकालकी महिमा है। क्या यह धार्मिकोंके लिए एक महान् खेदका विषय नहीं! जब हम इसके आन्तरिक तथ्य का अन्वेषण करते हैं तब यही निष्कर्ष निकलता है कि कोई भी मनुष्य किसी भी समयमें धर्मका विरोध नहीं कर सकता। धर्मके साथ विरोध हो भी नहीं सकता। विरोध केवल वाह्याडम्बरसे धर्म के नाम पर होनेवाले अधार्मिक आचरणसे, धर्मके बहाने किए

आनेवाले स्वार्थ-पोषणसे है। वर्तमानमें धर्म और धर्मके अनुगामी विरले हैं। अधिकतर दाम्भिक पुरुष ही धर्मकी विडम्बना कर रहे हैं। उनके कथनानुसार वे ही धर्मके नेता हैं। उनके स्वार्थपूर्ण आचरणको निहार कर कौन मनुष्य धर्मको घृणाकी दृष्टिसे नहीं देखता ? इत्यादि इन बातोंके सूक्ष्म पर्यवेक्षणसे मेरा अधिकतर खिन्न मानस भी सत्य धर्मके प्रचारार्थ एवं असत्य धर्मके निवारणार्थ सम्पन्न होनेवाले इस सर्वधर्म-सम्मेलनको इसके उद्देश्योंके अन्तर्गत प्रयत्नोंको देखकर और आलोचनात्मक अध्ययन कर परम शान्तिका अनुभव कर रहा है। यह समय इस कार्यके लिए उचित है। जबकि विश्वव्यापी महाप्रलयकारी युद्ध और उससे उत्पन्न भाँति-भाँतिकी विकट-विकटतम समस्याओंको लाँघ कर सुखपूर्वक जीनेका इच्छुक समूचा संसार किसी शांतिके रहस्यको सुनने, उसके पीछे २ चलनेको उत्सुक है। इसलिए अब एक तूफानी क्रान्ति उठानी चाहिये। एक प्रबल आन्दोलन छेड़ना चाहिये। जिससे इस नव-युगके आरम्भमें सत्यधर्मका स्रोत निकल पड़े और उस पर लोगों की रुचि बढ़े। मैं प्रस्तुत अधिवेशनमें उपस्थित सब सज्जनोंको जैन-दर्शनसे अनुप्राणित सर्वोपयोगी धार्मिक रहस्यका दिग्दर्शन कराना चाहता हूँ और आशा करता हूँ कि उपस्थित सज्जन सावधानी से उसका मनन करेंगे और उसको कार्यरूपमें परिणत करेंगे।

धर्मकी परिभाषा

आत्म-शोधन, आत्म-स्वातन्त्र्य एवं आत्म-उन्नतिके साधनका नाम धर्म है। वह दो प्रकारका है। निवृत्तिरूप और निरवद्य-प्रवृत्तिरूप। जितना-जितना आत्म-संयम है, असद् आचरणोंका परित्याग है; वह निवृत्ति है। राग-द्वेष-प्रमाद आदि रहित आचरण, स्वाध्याय, ध्यान, उपवास, सेवा विनय आदि-आदि कार्य निरवद्य प्रवृत्ति है। इनके अतिरिक्त जितने आचरण हैं वह धर्म नहीं किन्तु लौकिक प्रवृत्ति अथवा जगत्‌का व्यवहार है। मोक्ष आत्म-विकाशका चरम उत्कर्ष—एक सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ है। उसकी प्राप्तिके लिए प्रति-पल प्रयत्नशील रहना चाहिए। जन-साधारणमें जो भौतिक अभिसिद्धियोंके प्रतिस्पर्धा बढ़ रही है, तत्त्वदृष्ट्या वही अशान्तिवर्धक है। चूंकि ज्यों-ज्यों भौतिक विकाश पराकाष्ठा पर पहुंच रहा है त्यों-त्यों उसके लिए लोगोंकी लालसाएं भी चरम सीमा पर पहुंच रही है। जहाँ लालसा है, वहां दुःख निश्चित है। आध्यात्मिक विकाशके लिए प्रयत्न करने पर भौतिक सिद्धियां अपने आप मिल जाती हैं। आत्म-विकाश का समर्थ साधन धर्म ही है।

राग, द्वेष और बलात्कारसे धर्मका विरोध

जहां आसक्ति है, अमैत्री है वहां धर्म नहीं। आसक्ति और द्वेष संसार वृद्धिके हेतु है। उनके साथ धर्मका सम्बन्ध कैसे हो सकता है। जहाँ आसक्तिके फलस्वरूप बलवानोंका पोषण और अमैत्रीके फलस्वरूप दुर्बलोंका शोषण होता है, वहाँ यदि धर्म माना जाय तो फिर अधर्मकी क्या परिभाषा होगी और किस

प्रकार अधर्मका अस्तित्व जाना जायगा ? धर्मके लिए जबरदस्ती नहीं की जा सकती। धर्म बलात्कारसे नहीं मनवाया जा सकता और न करवाया जा सकता है। धर्म, उपदेश, शिक्षा और मध्यस्थता—आसक्ति और द्वेष रहितको अपेक्षा रखनेवाला है। यह कहीं भी बलपूर्वक, प्रलोभनपूर्वक प्रवृत्तिकी अपेक्षा नहीं रखता। यदि बलपूर्वक प्रवृत्तिसे भी धर्म हो जाय तो फिर राजनीति ही धर्मनीति हो जायगी। क्योंकि राजनीतिमें बल प्रयोग अवश्यम्भावी है। राजनीति और धर्मनीतिमे यही प्रधान भेद देखा गया है। अतएव इन दोनोंका एक ही कारण आज तक न तो हुआ है, न देखा है, न सुना है।

लौकिक कार्य और धर्म दो हैं

जन-साधारणके निर्णयानुसार उनका जो कर्तव्य है ; वही धर्म है। उनकी दृष्टिमें धर्म कर्तव्यसे कोई भिन्न वस्तु नहीं है, उनका यह निर्णय ठीक है, यह कहनेको हम असमर्थ हैं। चूंकि धर्म लौकिक कर्तव्यसे भिन्न देखा जा रहा है। मानववर्ग अपनी अपनी सुविधाओंके लिए जिस आचरणको कर्तव्यरूपसे मान लेते हैं ; वह लौकिक कर्तव्य कहा जाता है और यह पग-पग पर परिवर्तित होता रहता है। जो एक समय कर्तव्य है वह दूसरे समय अकर्तव्य हो जाता है। इसी प्रकार अकर्तव्य से कर्तव्य। जैसे एक वह युग था जबकि कठिन-से-कठिन परिस्थिति आ जाने पर भी राज-विरोध करना अकर्तव्य माना जाता था और आज वह साधारण स्थितिमें भी कर्तव्य माना जा रहा है। धर्म अपरि-

वर्तनशील है। उसका स्वरूप सर्वदा अटल है। एक ही कालमें एक ही कार्यको एक व्यक्ति अकर्तव्य मानता है और दूसरा कर्तव्य। अतएव कर्तव्य सर्वसाधारण नहीं, अपितु धर्म सर्व-साधारण है। सबके लिए समान। ऐसे कारणोंसे यह जाना जाता है—धर्म और कर्तव्य दो हैं, भिन्न-भिन्न हैं। धर्मकी गति आत्म-विकासकी ओर है जबकि लौकिक कर्तव्यका तांता संसारसे जुड़ा हुआ है। इस तथ्यको बालक, बुड्ढे सब जानते हैं। इस जगह यह आशंका नहीं करनी चाहिए कि लौकिक कार्योंमें धर्म माने बिना उनमें लोगोंकी प्रवृत्ति कैसे होगी। वह प्रवृत्ति सहज है। जैसे खेती, व्यापार, विवाह आदि लौकिक कार्योंमें होती है। सिर्फ लौकिक कार्योंको प्रोत्साहित करनेके लिए उनमें धर्म कहना दम्भचर्या नहीं ; यह हम कैसे कह सकते हैं ?

धार्मिक नियम

जैन वाङमयमें पूर्व कथित निवृत्ति और निरवद्य प्रवृत्तिरूप धर्मके १३ नियम बतलाये हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) अहिंसा—त्रस और स्थावर दोनों प्रकारके प्राणियोंका अपनी असत् प्रवृत्तिके द्वारा प्राण वियोग करना हिंसा है, अथवा जितनी असत् प्रवृत्ति, आसक्ति एवम् अमैत्रीपूर्ण आचरण है, वह सब हिंसा है। हिंसाका विपरीत तत्त्व अहिंसा है। सब प्रकारसे सब जीवोंको न मारना अहिंसा है। विश्व-मैत्री अहिंसा है।

(२) सत्य—असत्य वाणी, असत्य मन, असत्य चेष्टाओंका त्याग करना। वह सत्य भी असत्य है जो दूसरोंके दिलको चोट पहुंचावे।

(३) अचौर्य। (४) ब्रह्मचर्य। (५) अपरिग्रह।

(६) इर्या समिति। (७) भाषा समिति।

(८) एषणा समिति। (९) आदानसमिति।

(१०) उच्चारप्रतिष्ठापनसमिति। (११) मनो गुप्ति।

(१२) वाग् गुप्ति। (१३) शरीर गुप्ति।

गृहत्यागी मुनि इन तेरह नियमोंका पूर्णरूपेण पालन करते हैं।

गृहस्थ और धर्म

गृहवासी मनुष्य इन उपरोक्त १३ नियमोंकी पूर्ण रूपसे आराधना नहीं कर सकते। इसलिये वे इनको यथाशक्ति पालते हैं। जैसे—(१) स्थूल प्राणातिपात विरमण, (२) स्थूल मृषावाद विरमण, (३) स्थूल चौर्य निवृत्ति, (४) स्थूल मैथुन निवृत्ति, (५) परिग्रह परिमाण आदि आदि।

धर्म अवनतिका कारण नहीं।

धर्म जनताको अवनतिकी ओर ले जानेवाला नहीं। धर्मसे मनुष्य कायर बनते हैं, भीरु बनते हैं, अहिंसा धर्मने वीरवृत्तिका सर्वनाश कर डाला, यह निरा भ्रम है। चूंकि अहिंसा वीर पुरुषों का धर्म है। अहिंसा वीरत्वकी जननी है। कायर पुरुषोंके लिए

अहिंसाका द्वार बन्द है। भगवान् महावीर आदि अहिंसाके साकार अवतार इस रत्नगर्भा भूमि पर अवतरित हुए थे। उनके अनुगामी अनेकों मुनि अहिंसारत हुवे और अब भी हैं। महात्मा गांधी प्रमुख राष्ट्रीय नेता तो अहिंसाके अस्त्रकी सुरक्षामें जैन मुनियोंकी तरह बंगाल आदि प्रदेशोंमें लोगोंके पारस्परिक विद्वेष को शान्त करनेके लिए पाद-विहारसे विहर रहे हैं। क्या यह कोई कह सकता है कि वे सब कायर हैं भीरु हैं? अतएव उपरोक्त धारणा भ्रममूलक है। यद्यपि मुमुक्षु जन आत्म-विकासके निमित्त ही धर्म किया करते हैं तथापि उनके द्वारा समाज और राष्ट्रकी उन्नति निश्चित होती है। उदाहरणस्वरूप कोई मनुष्य अहिंसा धर्मको स्वीकार करता है, वह विश्व-मैत्री है।

मैत्रीसे पारस्परिक कलहका अन्त हो जाता है। यह निःसंदेह है इस पर कोई दो मत नहीं हो सकते। सत्यव्रतसे लोग विश्वस्त बनते हैं, आपसमें प्रेम बढ़ता है। जिस देश, राष्ट्र और संघमें जितने अधिक सत्यवादी होते हैं, वह उतना ही अधिक प्रतिष्ठित और उन्नत बनता है। अपरिग्रह व्रतसे अपना मन संतुष्ट और दूसरोंके साथ होनेवाली परिग्रहकी स्पर्धा, ईर्ष्या, बराबरीकी भावनाका अन्त होता है। आवश्यकताके उपरांत यदि अर्थ संचय न किया जाय तो दूसरोंकी आवश्यकताएं अपने आप पूरी हो सकती हैं। निर्धनता और अति धनिकता—असाधारण विषमताका अन्त हो सकता है। निर्धन और धनिकोंके संघर्ष, पूंजीवाद और समाजवादके कलहका लोप हो सकता है।

दूसरे दूसरे पूंजीवादके विरोधवादोंकी पूंजीसे घृणा नहीं, पूंजीवादके कार्योंसे घृणा है। दूसरे शब्दोंमें धनसे घृणा नहीं, धनके अपव्ययसे घृणा है। अपरिग्रहव्रतके अनुसार पूंजीसे ही घृणा होनी चाहिए। क्योंकि अर्थ सब जगह अनर्थमूलक सिद्ध हुआ और हो रहा है। पूंजीवादके विरोधीवादोंका जन्म, रोटी-कपड़ेकी कठिनाइयोंके अन्तरकालमें हुआ है। अपरिग्रहवादका उपदेश भगवान् महावीरने तब दिया था जबकि भारत पूर्ण समृद्ध, उन्नत और दूसरोंका गुरु था और जब एक वर्षमें एक विशाल कुटुम्बके लिए सैकड़ों रुपयोंका खर्च तो काफी संख्यामें था। जीवनके आवश्यक पदार्थोंकी असम्भावित सुलभता थी। देखा जाता है, अनुमान किया जाता है, यह सत्य है कि पूंजीवादके विरोधीवाद उच्च सत्ताके अधिकारी बनकर स्वयं पूंजीवादकी ओर झुक जाते हैं। पर अपरिग्रहवादका उद्देश्य अथसे इति तक एक है। प्रत्येक दशामें तृष्णाका—अर्थसंग्रहका संकोच करनेका है। दूसरे वादोंमें कुछ न कुछ स्पर्धा और स्वार्थके भाव हो सकते हैं, होते हैं। पर अपरिग्रहव्रतका बीज एक मात्र आत्मशोधन है। अतएव यह निश्चित घोषणाकी जा सकती है कि अपरिग्रहवादके लक्ष्यको अपनाये बिना—अटल रखे बिना चाहे कोई भी वाद हो, वह जनसाधारणको सुखी नहीं बना सकता न अपने आप को। इसी तरह अन्यान्य व्रतोंमें भी ऐहिक लाभ भरा पड़ा है। धार्मिक नियमोंका आचरण करना कठिन है, असम्भव नहीं। उनका आचरण करनेसे तो लाभ निश्चित है; अवश्यम्भावी है। पर

पलमें धर्मकी उपासना आवश्यक है। कई लोग धर्मको केवल धर्म-स्थानकी वस्तु समझ रहे हैं, यह उनकी भयंकर भूल है। धर्म सब जगह सदा एवं सब कार्योंमें उपासनीय है। अधर्म सब जगह त्याज्य है। गृहस्थ सम्बन्धी कार्योंमें गृहस्थ मोह परतन्त्र एवं आवश्यकताकी पूर्तिके लिए प्रवृत होते हैं। वह उनकी असमर्थता है, धर्म नहीं। उन्हें हर समय यों सोचना चाहिए कि वे पुरुष धन्य हैं जो प्रतिक्षण धर्मकी आराधना कर रहे हैं। प्रत्येक कालमें दैनिक आचरणमें धर्मका आदर करना चाहिए। धर्मका जितना अधिक आदर किया जायगा, उतना ही अधिक दुनियाका कल्याण होगा।

धर्म और सम्प्रदाय

आत्म-विकासका हेतु धर्म है, वह एक है। उसके साम्प्रदायिक रूपमें जो भेद है, भिन्न भिन्न शाखाएं है, जैसे—जैन-धर्म बौद्ध-धर्म क्रिश्चियन धर्म, वैदिक धर्म, इस्लाम धर्म, यह सब धर्मका निरूपण करनेवाले महात्माओंकी अपेक्षासे है। इन सबमें अहिंसा प्रमुख जो जो विशेषताएं है उन्हें सूक्ष्म, विवेचन एवं सम्यक् आलोचना पूर्वक हमें विना किसी पक्षपातके अपनानी चाहिए, आदर करना चाहिए। धर्मके अन्दर विरोधनीति हितकर नहीं हो सकती। इस विषयमें जैनधर्म उदार और सत्यप्रिय है। उसके मन्तव्यानुसार जैनेतर बौद्ध, क्रिश्चियन, वैदिक, इस्लाम आदि दर्शनोंकी अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि विज्ञान रूप जितनी साधना है वह

सब हृदयग्राही है, अनुमोदनीय है। जो हमारा है वही सत्य नहीं, जो सत्य है वही हमारा है, यही निर्णय पण्डितोंको मान्य होना चाहिए। एक जैन कविने कहा है, "अज्ञानी पुरुषोंके भी परोपकार, सन्तोष, सत्य, उदारता नम्रता आदि आदि गुण हैं, वे आत्म-विकासके हेतु है, हम उनका अनुमोदन करते है।" इस प्रकार सब दार्शनिकोंको विशालता रखनी चाहिए। आपसमें विरोध भावनाओंका पोषण नहीं करना चाहिए। धर्मके नामपर विरोध फैलानेसे यह लोक-दृष्टिमें हास्यास्पद और घृणाका हेतु बन जाता है। धार्मिक जनोंको धार्मिक गौरवकी रक्षाके अर्थ इस पर हर समय ध्यान रखना चाहिए।

धर्म और एकीकरण

धार्मिक मतभेदको दूर करनेके लिए अनेकों पंडित यत्नशील है, यह लोकवाणी कहीं कहींसे कानों तक पहुंच रही है। इसके सम्बन्धमें मेरा जैनदर्शनानुसारी विचार निम्न प्रकार है:—

"मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना" इस लोकोक्तिको हमें सर्वथा असत्य नहीं मानना चाहिए। सब मनुष्योंकी विचार शैली, निरूपण-पद्धति और मन्तव्य रुचि किसी समय भी एक नहीं हो सकती। यह एक अटल और सर्वमान्य सिद्धान्त है। जब कि सबके विचारोंका एकीकरण होना ही कठिन है, इस दशामें सब धर्मोंको किस आधार पर एक करनेकी सम्भावना करनी चाहिए।

यह एक असम्भव-सी बात है। तो भी विचारोंकी विषमता

को विचारों तक ही सीमित रखनेके लिए असभ्य अमानवीय एवं बर्बर व्यवहारोंको रोकनेके लिए, प्रत्येक तथ्यको भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणसे परखनेके लिए, अनेकतामें एकताकी स्थापनाके लिए एक तटस्थ सिद्धान्तकी आवश्यकता है। वह जैन-दर्शनमें उपलब्ध है। वह है नयवाद। एकताके अभिलाषियोंको उसका अवश्य अनुसरण करना चाहिए। उसमें अन्ध-गज-न्यायके अनुसार सब धर्मोंकी अनेकतामें एकता सिद्ध होती है। सब वाद-विवादों का अन्त होता है। उससे हमें एक अनूठा सबक मिलता है। जिस प्रकार एक शरीरके विविध अवयव भिन्न-भिन्न होते हुए भी सम्मिलित होकर कार्य सम्पादन करते हैं, वैसे ही सब पृथक्-पृथक् दर्शनावलम्बी विरोध-भावनाको त्याग कर, एक होकर धर्म की उन्नति करनेको, अपनी, पराई और संसारकी भलाई करनेको उत्थान करनेको समर्थ हो सकते हैं। अतएव सत्यान्वेशी सज्जनों को उस नयवादका आलोचनात्मक अध्ययन करना चाहिए।

जैनका स्याद्वाद महानवाद है

स्याद्वाद जैन सिद्धान्तका प्राणभूत, सब विषम व विषमतम गुत्थियोंको सुलझाने वाला एक महान् सिद्धान्त है। जिससे सर्व पदार्थोंकी नित्यता-अनित्यता अस्तित्व-नास्तित्व, समता-विषमता सहज सिद्ध हो सकती है। उदाहरणस्वरूप—जगत शाश्वत है या अशाश्वत, इस पर महाप्रलयवादी जगतको अनित्य माननेके पक्षमें है और कोई दार्शनिक उसे एकांत नित्य मानते हैं। अपेक्षा-

वादके अनुसार जगत न तो नित्य है और न अनित्य, किन्तु नित्यानित्य है। चूकि पदार्थके रूपसे जगत अनादि और अनन्त है, इसलिए वह शाश्वत है और उसका प्रतिक्षण होनेवाला अवस्थाओंका परिवर्तन दृष्टिके सामने है, अतएव वह अशाश्वत है। यह नियम सब पदार्थों पर लागू होता है। इसी प्रकार अपने-अपने रूपसे सब पदार्थोंका अस्तित्व है और दूसरोंके स्वरूपसे नास्तित्व है। समान अंशोंके कारण एक है और विषम अंशोंके कारण अनेक है। इस प्रकार सप्तभंगीसे निरूपणके सात तरीकों से सब पदार्थोंके सत्यकी शोध करना चाहिए। अपेक्षावादका गम्भीर विश्लेषण करनेके लिए विद्वानोंको एक बलवान यत्न करना जरूरी है।

धर्मका सम्बन्ध व्यक्तिसे है

धर्म व्यक्तिनिष्ठ है, समष्टिगत नहीं। धर्म पर किसी जाति, समाज, राष्ट्र या संघका अधिकार नहीं। वह सबका है, वह उसीका है जो उसकी आराधना करता है। प्राणीमात्र धर्मका अधिकारी है। धर्मकी उपासनामें जाति, रङ्ग, देश, अस्पृश्य आदि का कोई भी भेदभाव नहीं हो सकता। जो पुरुष धर्मको अमुक जाति, अमुक दर्शनके आश्रित मानते है, वह दाम्भिक हैं। धर्म आत्माका गुण है। जो उसे पालता है, उसके लिए वह आकाश के समान विशाल और कुबेरके समान उदार है।

धर्मकी उपेक्षा

धर्मकी आराधना करनेको सचेष्ट रहना चाहिये। धर्मसे उदासीन रहना अच्छा नहीं। धर्मकी उपेक्षा अपनी उपेक्षा है, धर्मको भुलाना अपने-आपको भुलाना है। उसकी उपेक्षा अपनी उपेक्षा है। जो धर्मका खयाल रखता है, उसका वह भी खयाल रखता है। "धर्मो रक्षति रक्षितः" यह वाक्य पूर्ण परीक्षाके बाद रचा गया है। वर्तमानमें ऐसे मनुष्य प्रचुर मात्रामें मिलेंगे, जो धर्मसे कतई उदासीन हैं। उनकी धारणामें धर्म नामका कोई तत्त्व है ही नहीं। राजनैतिक दलमें भी एक ऐसे विचारोंका दल है। वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे धर्मके मूल पर कुठारघात करना चाहता है। इस दिशामें वह लगनके साथ काम कर रहा है। ज्यों त्यों, राजसत्ता या और और सम्भावित उपायोंसे धर्मका मूलोच्छेद करनेके बाद ही वह विश्वशांति और राष्ट्र उन्नतिका सपना देख रहा है। पर उनकी विचार शक्ति अपरिपक्व है। क्या वे इतना ही नहीं समझ सकते कि भारत एक धर्म प्रधान राष्ट्र है। इसकी संस्कृतिका मूल धर्म—अध्यात्मवाद है। सबके हृदयमें अपनी अपनी संस्कृतिका गौरव हुआ करता है। अध्यात्मवादके आधार पर जीनेवाली संस्कृतिका गौरव तो होना ही चाहिए। पर अदीर्घदर्शी मनुष्य अपनी अविचारपूर्ण प्रवृत्तिसे उस सुखद संस्कृतिकी अवहेलना कर अपने पैरों पर कुल्हाड़ी चला रहे हैं। हां! धर्मके नाम पर होनेवाले अधर्माचरण, दम्भचर्या, बाह्याडम्बरका अन्त तो अवश्य होना चाहिए। उससे कुछ हानि नहीं

प्रत्युत् लाभ होगा। पर चोरके साथ कोतवालको भी दंड देना कहा का न्याय है ? हमारा विचार एवं प्रचार यह होना चाहिए कि धर्मके नाम पर किये जानेवाले अधर्माचरणका अन्त करें। पर ऐसा न कर धर्मके अस्तित्वसे ही घृणा करवाना कहाकी बुद्धिमता है ?

भारतवर्षके नव-निर्माणमें धर्म विषयक पूर्ण स्वतन्त्रता आवश्यक होनी ही चाहिए। धर्मके अनुगामी यह आशा करते है कि धर्माचरणमें राजकीय सत्ताका कोई हस्तक्षेप नहीं होगा। इसके बारेमे महात्मा गाधी अनेक बार घोषणा कर चुके है कि धर्म किसी समय भी राज्य सत्ताका पारतन्त्र्य और हस्तक्षेप नहीं सह सकता। अन्य राष्ट्रीय नेता भी यही आश्वासन* दे रहे है कि धर्ममे कोई भी बाधा नहीं डाली जायगी।

---

* ['धर्म यदि आत्मीय गुण है तो फिर उसकी रक्षाके लिए राज्याधिकारियोंके आश्वासनकी क्या आवश्यकता ? यह एक सर्व साधारण प्रश्न है। पर इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिये कि हमारा धर्म राजनैतिकोंकी कृपा पर निर्भर करता है। हमारा धर्म हमारे पास है उसमें कोई बाधा नहीं डाल सकता। तथापि हम चाहते है कि धार्मिक और राजनैतिकोंके सम्बन्ध सद्भावपूर्ण बने रहें। एक दूसरेके बीच भेदभाव न बढे। अतएव हमें यह कहनेको बाध्य होना पड़ता है। उदाहरण स्वरूप जैनी साधु अहिंसाके मद्दे नजर रखते हुए किसी हालतमें भोजन नहीं पका सकते। उनके जीवन-निर्वाहका साधन एक मात्र भिक्षा है। उनकी भिक्षावृत्ति किसीके लिए भी बाधा स्वरूप नहीं। इस दशामें भिखमगोंके साथ साथ उनकी भिक्षा पर प्रतिबन्ध लगाना एक अविचारपूर्ण प्रयत्न है।]

सर्व-धर्म-सम्मेलनके उद्देश्यानुसारी प्रयत्न सब दर्शनोंके रहस्य की खोज करना, उनके पारस्परिक मतभेदोंको दूर करना, सत्य-धर्मकी रक्षा करना, प्रशंसाके योग्य हैं। समस्त धार्मिक मनुष्यों का यह मुख्य कर्तव्य है। प्रत्येक धार्मिकको सत्यधर्मकी रक्षा करनेके लिए प्रतिक्षण सचेष्ट और जागरूक रहना चाहिए।

जैनदर्शन और तेरापंथ

भगवान् महावीर जैनदर्शनके चौबीसवें प्रवर्तक थे। उनका निर्वाण ईसाके ५२७ वर्ष पूर्व हुआ था। वीर निर्वाणके बाद कई शताब्दियों तक उसका प्रचार वैसे ही समृद्ध रूपमें होता रहा। तत्पश्चात् परिस्थितिकी विषमता एवं धर्म-गुरुओंकी आचार-शिथिलता आदि कारणोंसे वह विशृङ्खलतामें परिणत हो गया। फल-स्वरूप समूचे भारतवर्ष एवं अन्यान्य देशोंमें व्याप्त मैत्री-प्रधान जैनधर्म एक छोटेसे वर्ग तक सीमित रह गया। ऐसी स्थितिमें ई० सन् १७६१ में एक जैनाचार्यने उसके उज्ज्वल अतीत की ओर ध्यान दिया, उनका नाम था भिक्षु स्वामी। मन्तव्य और आचरणोंकी शिथिलताको खत्म करनेके लिए एक सक्रिय आन्दोलन छेड़ा। एक भीषण क्रांति फैलाई। जैनसंघको संगठित करनेके लिए बुद्धिमत्तापूर्ण नियम एवं उपनियम बनाये। समूचे संघको एक सूत्रमें सूत्रित कर सारे संसारके सम्मुख एक नवीन आदर्श उपस्थित किया। प्रचार-कालके आरम्भमें भिक्षु प्रमुख १३ मुनि थे। साधुचर्याके प्रमुख नियम भी १३ थे। अतएव उक्त संख्याके अनुसार इस भिक्षु-प्रचारित जैन संघका लोगोंने

'तेरापंथ' नाम घोषित कर दिया। भिक्षु स्वामीने उस नामका तात्पर्य यों प्रचारित किया। 'हे महावीर प्रभो! यह तुम्हारा पंथ है—अहिंसा धर्म है। हम तो उसके अनुगामी हैं।' उसी समयसे इस संघका 'तेरापन्थ' नाम प्रचलित हुआ। वस्तुवृत्या जैन और तेरापन्थ एक ही है। इस समय उक्त जैन संस्थामें ६४१ साधु और साध्वियां एक आचार्यके अनुशासनको शिरोधार्य कर सत्यधर्मके प्रचारार्थ पादविहारसे विहर रहे हैं। लाखोंकी संख्यामें इसके अनुयायी सद्गृहस्थ यथाशक्ति धार्मिक नियमोंका अनुशीलन करते हुए समूचे भारतवर्ष फैले हुए हैं। विशेष अन्वेषण के लिए सत्यान्वेषक स्वयं उत्सुक होंगे। इस अति संक्षिप्त 'धर्म-रहस्य' नामक निबन्धको सुनकर, पढ़कर उपस्थित सज्जन सत्य धर्मके रहस्यका अन्वेषण करेंगे तो मैं मेरे इस प्रयासको सफल समझूंगा। विश्व - धर्म - सम्मेलन संयोजत्री सत्यान्वेषक समिति भी अपने नामको चरितार्थ कर सकेगी।

[दिल्लीमें एशियाई कान्फ्रेंसके अवसरपर भारत-कोकिला सरोजिनी देवी नायडूकी अध्यक्षतामें २१ मार्च सन् १९४७ को आयोजित 'विश्वधर्म-सम्मेलन'के अवसरपर]

गणतन्त्रकी सफलताका आधार

(अध्यात्मवाद)

जहां तन्त्र होता है वहां स्व और परका, एक और अनेकका भेद अपने आप जुड़ जाता है। एकतन्त्रसे गणतन्त्र अच्छा है; यह माना गया है। एकका तन्त्र इसलिए विकृत बना कि उसमें आत्मानुशासन नहीं रहा। गणका तन्त्र क्या इसीलिए अच्छा है कि वह अनेकोंका है ? नहीं, एकका हो वह बुरा और अनेकोंका हो वह अच्छा, यह नियम बन नहीं सकता। आत्म-नियन्त्रणके बिना जो बुराई एकमें हुई है, वह अनेकोंमें भी हो सकती है। एक चिन्ता करनेवाला हो तब दूसरे उस पर निर्भर भी रह सकते हैं, किन्तु गणतन्त्रमें यह बात नहीं बनती। यह सबका तन्त्र है इसलिए उसका दायित्व किसी एकके कन्धे पर नहीं होता। एक दूसरे पर दोष थोपकर जल-कमल ज्यों निर्लेप नहीं रह सकता।

शासन-तन्त्र या संसद्‌में सबके सब व्यक्ति जमा नहीं होते फिर भी जो होते हैं वे बहुसंख्याके प्रतिनिधि होते हैं। एक प्रतिनिधिकी वाणीमें उसके समस्त मतदाताओंकी वाणीका पोषण रहता है।

जनता अपने नेतासे और नेता अपनी जनतासे द्वैधभाव न मिटा सके, आपसमे एक दूसरेके दोषोंका प्रकाशन होता रहे, वह गणतन्त्र कब सफल होनेका है ? दोनोंमेंसे किसी एकमें दोष है, फिर भी उसका परिणाम दोनोंको भुगतना पड़ता है। इसलिए आवश्यक यह है कि रथके दोनों पहिये स्वस्थ हों। पर यह राज-नीतिमे कैसे हो सकता है ? राजनीति कूटनीतिका नाम पा चुकी है। राजतन्त्र गया तो क्या, उसका कूटतन्त्र तो आज भी पहले जैसा ही है, कुछ बढा भले ही हो, कम तो किसी प्रकार नहीं है। चालें चलती है, खेल खेले जाते हैं तब क्यों जनता चुके और क्यों नेतृगण ? स्वस्थ बननेके लिए पहले सफाईकी जरूरत है, सञ्चित मलको निकाल फेंकनेकी आवश्यकता है। रोगको दबानेसे वह मिटनेवाला नहीं है। प्राकृतिक चिकित्सा रोगको दबाती नहीं, उभाड़ती है, रोगीको बिगाड़नेके लिए नहीं, किन्तु वह सदाके लिए स्वस्थ बन जाय, इसलिए।

भारतीय गणतन्त्र, जिसकी गत वर्ष स्थापना हुई थी, को यदि स्वस्थ बनना है तो उसे प्रकृतिकी गोदमें लुटना होगा। भारतकी मूल प्रकृति अध्यात्मवाद है। भारतीय जनता अपनी खोई हुई निधिको पुनः बटोरे, यह युगकी माग है। अभी थोड़े दिनों पहले एक जर्मन विद्वान्ने कि० घ० मशुवालाको दिये गये अपने पत्रमे लिखा था कि यदि भारत भी पश्चिमकी भौतिक संस्कृतिमे बह गया तो मुझे इससे हार्दिक दुःख होगा। भारत अध्यात्मको फैलाये, यह मानवताकी माग है।

'अपने लिए अपना नियन्त्रण' यही है थोड़ेमें 'अध्यात्मवाद'। दूसरोंके लिए अपना नियन्त्रण करनेवाला, दूसरों पर नियन्त्रण करनेवाला भी दूसरोंको धोखा दे सकता है किन्तु अपने लिए अपना नियन्त्रण करनेवाला कभी वैसा नहीं कर सकता। खेद और आश्चर्यके साथ यह मानना पड़ता है कि जनताने जिनके हाथोंमें अपना भाग्य सौंप रक्खा है वे इस ओर सजग नहीं हैं। शस्त्रास्त्रोंकी जगमगाहटमें जनताकी आंखें चकाचौंध करनेवाली बात आज भी मीठी लगती हैं, अध्यात्मकी बातें नहीं भाती। भाये भी कैसे, जबतक उसे बुजदिली माननेकी आदत भी नहीं छूटती। हिंसाके जगतमें अध्यात्मवाद सफल नहीं हो सकता यह धारणा भी निर्मूल नहीं हुई है। पर सही अर्थमें यह भूल है। संघर्षकी दुनियांमें मनुष्यकी शक्तिका जितना व्यय हुआ उसका शतांश भी यदि अध्यात्मके प्रचारमें होता तो दुनियां का मानचित्र और कैसा ही बना मिलता।

खैर, बीती बातका क्या? अब भी समय है। भौतिकता की चिनगारियोंसे झुलसे हुए संसारको आज अध्यात्मवादकी सदासे अधिक जरूरत है पर अपेक्षा इस बातकी है कि भारतीय जनता पहले अपने आपको सम्भाले।

राष्ट्रके बाहर अन्तर्राष्ट्रीय स्थितिमें जो कुछ हो रहा है सो हो रहा है, उसके अन्दर भी बुराइयोंकी कमी नहीं है। सामाजिक कुरूढ़ियां, चोरबाजार, घूस, साम्प्रदायिक-व्यामोह आदि ये प्रवृ-त्तियां निःसन्देह मानवताकी शत्रु हैं इन्हें दूर करने पर ही गण-

जनता अपने नेतासे और नेता अपनी जनतासे द्वैधभाव न मिटा सके, आपसमें एक दूसरेके दोषोंका प्रकाशन होता रहे, वह गणतन्त्र कब सफल होनेका है ? दोनोंमेंसे किसी एकमें दोष है, फिर भी उसका परिणाम दोनोंको भुगतना पड़ता है। इसलिए आवश्यक यह है कि रथके दोनों पहिये स्वस्थ हों। पर यह राज-नीतिमें कैसे हो सकता है ? राजनीति कूटनीतिका नाम पा चुकी है। राजतन्त्र गया तो क्या, उसका कूटतन्त्र तो आज भी पहले जैसा ही है, कुछ बढा भले ही हो, कम तो किसी प्रकार नहीं है। चालें चलती है, खेल खेले जाते है तब क्यों जनता चुके और क्यों नेतृगण ? स्वस्थ बननेके लिए पहले सफाईकी जरूरत है, सञ्चित मलको निकाल फेंकनेकी आवश्यकता है। रोगको दबानेसे वह मिटनेवाला नहीं है। प्राकृतिक चिकित्सा रोगको दवाती नहीं, उभाड़ती है, रोगीको बिगाड़नेके लिए नहीं, किन्तु वह सदाके लिए स्वस्थ बन जाय, इसलिए।

भारतीय गणतन्त्र, जिसकी गत वर्ष स्थापना हुई थी, को यदि स्वस्थ बनना है तो उसे प्रकृतिकी गोदमे लुटना होगा। भारतकी मूल प्रकृति अध्यात्मवाद है। भारतीय जनता अपनी खोई हुई निधिको पुनः बटोरे, यह युगकी माग है। अभी थोड़े दिनों पहले एक जर्मन विद्वान्ने कि० ध० मश्रुवालाको दिये गये अपने पत्रमें लिखा था कि यदि भारत भी पश्चिमकी भौतिक संस्कृतिमें बह गया तो मुझे इससे हार्दिक दुःख होगा। भारत अध्यात्मको फैलाये, यह मानवताकी मांग है।

'अपने लिए अपना नियन्त्रण' यही है थोड़ेमें 'अध्यात्मवाद'। दूसरोंके लिए अपना नियन्त्रण करनेवाला, दूसरों पर नियन्त्रण करनेवाला भी दूसरोंको धोखा दे सकता है किन्तु अपने लिए अपना नियन्त्रण करनेवाला कभी वैसा नहीं कर सकता। खेद और आश्चर्यके साथ यह मानना पड़ता है कि जनताने जिनके हाथोंमें अपना भाग्य सौंप रक्खा है वे इस ओर सजग नहीं हैं। शस्त्रोंकी जगमगाहटमें जनताकी आंखें चकाचौंध करनेवाली बात आज भी मीठी लगती हैं, अध्यात्मकी बातें नहीं भाती। भाये भी कैसे, जबतक उसे बुजदिली माननेकी आदत भी नहीं छूटती। हिंसाके जगतमें अध्यात्मवाद सफल नहीं हो सकता यह धारणा भी निर्मूल नहीं हुई है। पर सही अर्थमें यह भूल है। संघर्षकी दुनियांमें मनुष्यकी शक्तिका जितना व्यय हुआ उसका शतांश भी यदि अध्यात्मके प्रचारमें होता तो दुनियां का मानचित्र और कैसा ही बना मिलता।

खैर, बीती बातका क्या ? अब भी समय है। भौतिकता की चिनगारियोंसे झुलसे हुए संसारको आज अध्यात्मवादकी सदासे अधिक जरूरत है पर अपेक्षा इस बातकी है कि भारतीय जनता पहले अपने आपको सम्भाले।

राष्ट्रके बाहर अन्तर्राष्ट्रीय स्थितिमें जो कुछ हो रहा है सो हो रहा है, उसके अन्दर भी बुराइयोंकी कमी नहीं है। सामाजिक कुरूढ़ियां, चोरबाजार, घूस, साम्प्रदायिक-व्यामोह आदि २ प्रवृत्तियां निःसन्देह मानवताकी शत्रु है इन्हें दूर करने पर ही गण-

तन्त्रका सितारा चमक सकता है।

यदि जनताके सूत्रधार अणुव्रती बनना और बनाना अपना लक्ष्य बनालें तो मैं समझता हूं कि वे अपने राष्ट्रकी ही नही दूसरे राष्ट्रोंकी भी दशा बदलनेमें सफल हो सकते है।

हांसी (पंजाब)

२६, जनवरी, १९५१

धर्म और भारतीय दर्शन

श्रेयस् और प्रेयस्

यह एक प्रश्न ही नहीं, जटिल प्रश्न है कि धर्म क्यों ? उद्देश्य स्पष्ट नहीं होता तबतक कोई कैसे चले ? धर्म किसलिए है ? समाजकी व्यववस्थाके लिए अथवा किसी दूसरे उद्देश्यकी पूर्तिके लिए। यदि वह समाजकी व्यवस्थाके लिए ही है, तब धर्मका मानी होता है समाज व्यवस्थाके नियम। धर्मका उद्देश्य कोई दूसरा है तो वह क्या है ? उसका समाजसे कोई सम्बन्ध है या नहीं।

दार्शनिक चिन्तनकी दो धाराएं हैं—अस्तिवाद और नास्तिवाद। अस्तिवाद आत्मा, कर्म और पूनर्जन्मको स्वीकार करता है इसलिए वह 'प्रेयस्' के अतिरिक्त 'श्रेयस्' को भी स्वीकार करता है। नास्तिवाद आत्मा आदिको स्वीकार नहीं करता इसलिए वह 'श्रेयस्को भी स्वीकार नहीं करता।

नास्तिवादी-चिंतनमें न तो धर्म नामका कोई तत्त्व ही है और न उसका समाजकी समृद्धिसे परे कुछ लक्ष्य या उद्देश्य भी।

धर्मका उद्देश्य

अस्तिवादीका ऐहिक उद्देश्य जहा समाजकी सुख-सुविधा है, वहा उसका पारलौकिक उद्देश्य है आत्म-विकास। इस साध्यकी द्वैततासे ही साधन द्वैतकी सृष्टि होती है। जो समाजका अभ्युदय करे, वह समाजकी मर्यादा है और जो आत्माका अभ्युदय करे, वह धर्म है। धर्मसे भी समाजका अभ्युदय होता है पर वह उसका साध्य नहीं है। सामाजिक मर्यादासे भी धर्माचरण सुलभ होता है पर वह उसका साध्य नहीं होता।

धर्म व्यक्ति और समष्टि

धर्म यद्यपि आत्म-शुद्धिके लिए है फिर भी काफी दूर तक उससे समाजका कल्याण होता है इसलिए वह उससे सर्वथा असम्बद्ध नहीं रहता। व्यक्तिकी सत्प्रवृत्तिसे समष्टिकी कठिनाइया टलती हैं, बढती नहीं। समष्टिका एक एक अङ्ग धर्मका अनुशीलन करता है इसलिए वह समाजके लिए है, यह भी कहा जा सकता है। उद्देश्यकी दृष्टिसे वह न व्यक्तिके लिए है, न समष्टिके लिए। आचरणकी दृष्टिसे वह व्यक्तिके लिए भी है, समष्टिके लिए भी। भौतिक उद्देश्योंकी पूर्तिकी दृष्टिसे देखें तब वह समाजके लिए नहीं है तो व्यक्तिके लिए भी नहीं है। आत्म-शुद्धिकी दृष्टिसे देखें तो वह व्यक्ति और समाज दोनोंके लिए है। समाजके लिए जो आवश्यक हो, वह सब धर्म है, यह बात आस्तिक दर्शन स्वीकार नहीं करते। इसलिए धर्म और सामाजिकतामें पूर्णैक्य नहीं रहता।

धर्मकी परिभाषा

धर्म उत्कृष्ट मंगल है।[1] उसका रूप है—अहिंसा, संयम और तप। वह ऋजु-आत्मामें ठहरता है।[2] जैन सूत्र कहते हैं—आत्महितके लिए धर्म स्वीकार करना चाहिए। आत्महितमें सब का हित है—आत्माका भी और शरीरका भी। 'एक' समाजका अङ्ग होता है इसलिए सबका भी। एकसे सबका और सबसे एकका हित वहीं हो सकता है, जहां अहिंसा हो। अहिंसा ही सर्व जीव क्षेमंकरी है। हिंसा जीवन यदि समाजमें सर्वथा परिहार्य नहीं तो अपरिहार्य भी नहीं। अहिंसाकी भित्तिमें धर्म और समाजकी एकता है, हिंसाकी स्थितिमें दोनोंकी दो दिशाएं हैं।

'प्रेयस्‌की कामना करनेवाला बंधता है[3] और 'श्रेयस्' की आराधना करनेवाला मुक्त होता। बन्धन दुःख है, मुक्ति सुख। "सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्" इसमें परका अर्थ केवल दूसरा व्यक्ति ही नहीं किन्तु आत्मातिरिक्त पदार्थमात्र है। इस परसे समझा जा सकता है कि 'प्रेयस्' ही पर है और स्व है श्रेयस्। यहीं धर्मका 'प्रेयस्' से पृथक्करण होता है और वह भौतिकताकी परिधिसे दूर हटकर आध्यात्मिक बन जाता है।

धर्मसे समाज और राज्यकी व्यवस्थाका अभेद करनेसे किसी का भी स्वरूप निर्विकार नहीं रहता। धर्म सार्वभौम होते हुए भी किसीको विवश नहीं करता। राज्यके नियम अपनी सीमामें किसीको छूट नहीं देते।

१—दशवैकालिक १।१। २—उत्तराध्ययन ३। ३—दशवैकालिक ।४।

राज्य और समाजके साथ धर्मका अनुचित सम्बन्ध जोड़नेसे ही साम्प्रदायिक आवेग बढ़ा। आत्मौपम्यकी भावनाको चीरकर एकदैशिक सत्ताकी स्थापनमें धर्मका सदुपयोग हो नहीं सकता।

आज जो धर्मका अस्तित्व लड़खड़ा रहा है, उसका मूल कारण है उसके उद्देश्यकी भ्रान्ति। समाज अस्तिवादी और नास्तिवादी दोनोंकी दृष्टिका वेध होता है जबकि धर्म केवल अस्तिवादीके लिए ही है। धर्मके नामपर अनात्मवादी कुछ भी करना नहीं चाहता। चाहे भी कैसे? उसके साध्यका धर्म सर्वाङ्गसाधन नहीं बनता। यहींसे भूतवादका श्रीगणेश होता है।

भूतवाद और धर्म

भूतवादसे निकलता है—सुखसे जीओ, जीवनको समृद्धिपूर्ण बनाओ, आवश्यकताओंका विस्तार और उनकी यथेष्ट पूर्ति करो यही सुखका मूलमन्त्र है। धर्म कहता है—संयमसे जीओ, जीवनको संयमी बनाओ, आवस्यकताओंको कम करो। यही सुखका बीज है। आवश्यकताकी पूर्ति करना केवल रोगकी बाह्य चिकित्सामात्र है—सुख नहीं।

सुधारका केन्द्र

मनुष्य अपना सुधार नहीं चाहता, समाजका सुधार चाहता है; स्वयंको सुधारे विना समाजका सुधार नहीं हो सकता। अपनी बुराईका प्रतिकार किये विना समाजके सुधारकी बात सोचना धर्मकी मौलिकताको न समझनेका परिणाम है। धर्म

व्यक्ति-निष्ठ होता है। वह कहता है—प्रत्येकका सुधार ही समाज का सुधार है।

धर्म किसलिए

भगवान् महावीरने कहा है—"ऐहिक या पारलौकिक पौद्-गलिक सुखोंके लिए धर्म मत करो, श्लाघा-प्रतिष्ठाके लिए धर्म मत करो। धर्म करो आत्म-शुद्धिके लिए—कर्मलावरणको दूर करने के लिए।"

धर्मका साध्य आत्म-मुक्ति—निवारण अवस्था है। आत्मा अनन्त ज्ञानमय अरूपी सत्ता है। आत्मासे ज्ञान सर्वथा पृथक् नहीं है और न ज्ञानसे आत्मा पृथक् है। जो पूर्वापरिभूत ज्ञान है, वही अत्मा है। उसका स्वरूप पूर्ण समता है। निश्चय-दृष्टिमें वही धर्म है। अहिंसा, सत्य आदि आदि उसीके साधन हैं। भौतिक सुख आत्माका स्वभाव नहीं है, इसलिए वह न तो धर्म है और न धर्मका साध्य ही। इसलिए उसकी सिद्धिके लिए धर्म करना उद्देश्यके प्रतिकूल हो जाता है।

मिश्रणका फल

इसका अर्थ यह नहीं होता कि भारतीय दार्शनिकोंने ऐहिक अभ्युदयकी नितान्त उपेक्षा की है। सच तो यह है कि ऐसा अभ्युदय उनका चरम लक्ष्य नहीं रहा। यह भी स्पष्ट है कि भारतीय दर्शनोंने धर्म और ऐहिक अभ्युदयका सम्मिश्रण नहीं किया। धर्मके द्वारा अभ्युदय होता है पर धर्म उसके लिए नहीं

है। धर्मको अफीम, विष आदि २ कहा गया या कहा जाता है, वह इन दोनोंके सम्मिश्रणका कुफल है। धर्म अपनी मर्यादासे दूर हटकर राज्यकी सत्तामें घुलमिलकर विषसे भी अधिक घातक बन जाता है, यह वाणी धर्मद्रोही व्यक्तियोंकी है, यह नहीं माना जा सकता। धर्मके महान् प्रवक्ता भगवान् महावीरकी वाणीमें भी यही है —

'विसं तु पीयं जह कालकूडं,
हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं।
एसो विधम्मो विसओववन्नो,
हणाइ वेयाल इवाविपन्नो।

अच्छीसे अच्छी वस्तु भी दुरुपयोग होता है, इस उक्तिका धर्म भी अपवाद नहीं है और न रहा है। धन और राज्यकी सत्तामें विलिन धर्मको विष कहा जाये इसमें कोई अतिरेक भी नहीं है।

धर्म और सम्प्रदाय

सम्प्रदाय और मतवादोंकी प्रवृत्तियों द्वारा भारतमें भी धर्मकी कम विडम्बना नहीं हुई है। निःश्रेयसकी सिद्धिके लिये तत्त्वज्ञान है। उसकी गोदमें जल्प, वितण्डा, छल, जातिवाद और निग्रह—स्थान जैसे फूल निखर रहे हैं। यह क्या है? धर्मकी सुरक्षा है या मतवादोंकी? धर्म समभावमें है या एक दूसरेकी जय-पराजयमें? धर्म वहीं कुंठित होता है जहां कि धार्मिक व्यक्ति धर्मकी अपेक्षा मतवादोंकी प्रतिष्ठाका अधिक खयाल करने लग जाते हैं।

यह हुआ है, इसलिए धर्मका सूर्य आज पूर्ण जैसा तेजस्वी नहीं रहा।

सुना जाता है कि आजके मनुष्यमें धर्मके प्रति अश्रद्धा है, वह दर्शनको निठल्ले दिमागका उतार-चढ़ाव मानता है। किन्तु मैं इससे सहमत नहीं। धर्ममें ऐसी कोई बात ही नहीं जो कि उसके प्रति कोई अश्रद्धा करे। आजका जिज्ञासु और खोजी मनुष्य दर्शनकी अवहेलना करे यह न मानने जैसी बात है। वह मैं क्या हूं, कहांसे आया हूं और कहां जाना है—इसका उत्तर न लें, यह नहीं जंचता। उत्तर अस्ति या नास्ति किसी रूपमें हो, वह अपना अपना खयाल और प्रेरणा है, पर इस चिन्तनमें दर्शन की प्रायोजनिकता तो अपने आप सध जाती है। दर्शनका क्षेत्र व्यापक है। उसमें जड़-चेतन पदार्थ-मात्रकी मीमांसा की जाती है। समभाव हो तो वस्तुमात्रका पर्यालोचन धर्मकी आराधना है। आत्मचिन्तन जैसे धर्मध्यान है, ठीक वैसे ही एक परमाणुका चिन्तन भी धर्मध्यान है[1]।

ध्यान धर्मका प्रमुख अंग है, उसमें ज्यों स्व-रूपका आलम्बन होता है त्यों पर-रूपका भी। धर्म और दर्शनके सम्बन्धका भी यही कारण है। भारतीय धर्मोंकी यह एक बड़ी विशेषता है कि वे केवल 'आर्ष वाक्य' तक ही सीमित नहीं रहते, परीक्षाकी कसौटी पर भी अबाधगतिसे चलते हैं।

आजका युग परीक्षाप्रधान है। इसलिए यदि सद्भावना-

---

१ [illegible] का।

पूर्वक धर्मकी परख की जाय तो उसका किसी भी आधुनिकतम वादके साथ मेल खा सकता है। और 'वादों' की कमियों या विकारोंको मिटा, व्यापक अशान्ति, विग्रह और शोषणको चुनौती दे सकता है।

भारतके दार्शनिक भी अपनी पुरानी मनोवृत्तिको कुछ बदलें, मण्डनात्मक नीतिसे काम करें, धर्मके नामपर फैले हुए विकारोंको उखाड़ फेंके, समताके तत्त्वोंको आगे लाये तो भारतीय धर्म, दूसरे शब्दोंमें, "अहिंसा धर्म" विश्वके लिए एक महान् 'वरदान' हो सकता है।

[कलकत्तामें डॉ० राधाकृष्णन्‌की अध्यक्षता
में आयोजित भारतीय दर्शन परिषद्‌के
रजत जयन्ती समारोहके अवसर पर]

विश्व-शांति और उसका मार्ग

"सब जीवोंको आयुष्य और सुख प्रिय है—दुःख और वध अप्रिय है, इसलिए किसी भी प्राणीका वध नहीं करना चाहिए, सताना नहीं चाहिए—यही ध्रुव सनातन धर्म है; इसीका नाम अहिंसा, समता विश्वबन्धुता या विश्वमैत्री है।"

"जो मनुष्य विविध जीवोंकी हिंसामें अपना अनिष्ट देख सकता है, वही उसका त्याग करनेमें समर्थ हो सकता है। शान्तिप्रिय संयमी दूसरेकी हिंसा कर जीना नहीं चाहते।"

"हे पुरुष! तू अपने ही साथ युद्ध कर, दूसरोंके साथ युद्ध करनेसे क्या?"

पूर्वक धर्मकी परख की जाय तो उसका किसी भी आधुनिकतम वादके साथ मेल खा सकता है। और 'वादों' की कमियों या विकारोंको मिटा, व्यापक अशान्ति, विग्रह और शोषणको चुनौती दे सकता है।

भारतके दार्शनिक भी अपनी पुरानी मनोवृत्तिको कुछ बदलें, मण्डनात्मक नीतिसे काम करें, धर्मके नामपर फैले हुए विकारोंको उखाड़ फेंके, समताके तत्त्वोंको आगे लायें तो भारतीय धर्म, दूसरे शब्दोंमें, "अहिंसा धर्म" विश्वके लिए एक महान् 'वरदान' हो सकता है।

[कलकत्तामें डॉ० राधाकृष्णन्‌की अध्यक्षता में आयोजित भारतीय दर्शन परिषद्‌के रजत जयन्ती समारोहके अवसर पर]

विश्व-शांति और उसका मार्ग

"सब जीवोंको आयुष्य और सुख प्रिय है—दुःख और वध अप्रिय है, इसलिए किसी भी प्राणीका वध नहीं करना चाहिए, सताना नहीं चाहिए—यही ध्रुव सनातन धर्म है; इसीका नाम अहिंसा, समता विश्वबन्धुता या विश्वमैत्री है।"

"जो मनुष्य विविध जीवोंकी हिंसामें अपना अनिष्ट देख सकता है, वही उसका त्याग करनेमें समर्थ हो सकता है। शान्तिप्रिय संयमी दूसरेकी हिंसा कर जीना नहीं चाहते।"

"हे पुरुष ! तू अपने ही साथ युद्ध कर, दूसरोंके साथ युद्ध करनेसे क्या ?"

"हे पुरुष तू ही तेरा मित्र है। बाहर क्यों मित्र खोजता है ?"

"जिसको तू मारता है, वह तू ही है। जिसको तू दबाना चाहता है, वह भी तू ही है। धर्मको ज्ञानी पुरुषोंसे समझ कर, स्वीकारकर संग्रह न कर, क्योंकि परिग्रहके समान संसारमें दूसरा कोई बन्धन नहीं है।"

ये ढाई हजार वर्ष पुराने भगवान् महावीरके विचार (उपदेश)

सम्भवतः उस समय इतने आवश्यक नहीं थे, जितने आवश्यक आज है। आजके मानवका मन हिंसा और लोभकी समष्टि बना हुआ है। चारों ओर शान्तिकी पुकारें सुनकर ऐसा प्रतीत होता है—मानो समूची दुनिया शान्तिकी प्यासी है। किन्तु, उसके कार्यकलापोंको देखकर, सचमुच उसे शान्तिकी तड़प है, ऐसा अनुमान भी नहीं होता। आजके जीवनका उद्देश्य है—भौतिक सुख-समृद्धि। विकास और उन्नतिका अर्थ है—भौतिक पदार्थोंके नये नये अविष्कार और उनकी प्रचुरता या सर्व सुलभता। आजका शिक्षित और सभ्य समाज पहले क्षण कहता है—"उत्पीडन मत करो, शोषण मत करो।" दूसरे वक्तव्यकी पंक्तियां होगी—"हमारा जीवन-स्तर ऊंचा उठे, प्रत्येक व्यक्तिके पास मोटर-कार, रेडियो आदि आधुनिक सभ्यताके सब साधन विद्यमान रहें—भौतिक सुख सुविधाओंकी प्रचुरता रहे।" देखने मे दोनो भावनाएं सुन्दर है। दोनोंका कलेवर भी आकर्षक है तत्त्वदर्शी ऊपरी रंग रूपमे मूर्छित नहीं होना और न उसे होना ही चाहिए। मैं जानता हूं कि विश्व-शान्ति सम्मेलनकी आयोजना इसी लक्ष्यसे हुई है। महात्मा गांधीके इङ्गितने इसका बीजारोपण किया। शान्ति-पूजा करनेवाले अन्यान्य देशीय व्यक्ति इसको पल्लवित करना चाहते हैं और डा० राजेन्द्रप्रसादकी अध्यक्षतामे इसका यह पहला सम्मेलन हो रहा है, यह भला किस शान्तिप्रिय-व्यक्तिके लिए हर्ष या उल्लासका विषय न होगा? हां, तो तत्त्वदर्शी पुरुष औपचारिक पद्धतियोंको, बाहरी रङ्ग रूपोंको

महत्त्व न देकर आन्तरिक स्थितिको ही महत्त्व देते हैं। उत्पीड़न और शोषणका कारण भोग-लिप्सा है, भौतिक सुख सुविधाओंके प्रति होनेवाली आसक्ति है। इनका अन्त करना चाहें तो मानव को सादा जीवन बिताना होगा, संयम अपनाना होगा। वर्तमान सभ्यताके रङ्गमें रङ्गी दुनिया यह सुननेको भी तैयार नहीं है कि भौतिक पदार्थोंकी उत्कट लालसा, भौतिक सुख-सुविधाओंके प्रति प्रबल आसक्ति ही—इस अशान्तिका कारण है। महत्वाकांक्षाको उन्नतिका महान् साधन माना गया है। तब फिर आजकी शिक्षण पद्धतिमें अल्पेच्छा और आत्मनियन्त्रणका पाठ कैसे पढ़ाया जाय ?

अशान्तिका हेतु

इस समय समूचा विश्व उत्तरोत्तर अन्तर् आहोंसे झुलसा जा रहा है, ग्लानि, क्लेश और वेदनाकी चिर अनुभूतिसे नीरस होता जा रहा है। इसका कारण है—जीवनकी आवश्यकताओं की वृद्धि। आवश्यकताएं बढ़ती हैं, वहां उनकी पूर्तिके लिये आर्थिक लिप्सा बढ़ती है। आर्थिक लिप्सा बढ़ती है, तब शोषण बढ़ता है। शोषण चाहे व्यक्तिगत, जातिगत और राष्ट्रीय कैसा ही हो—उससे संघर्ष और दुर्भावनाका जन्म हुए बिना नहीं रहता। सामग्री कम है, आवश्यकताएं उससे अधिक हैं, संग्रह अधिकतर है और संग्रहकी भावना असीम है। यह समस्या साधनोंके विस्तारसे सुलझनेवाली नहीं। ज्यों-ज्यों साधनोंका और अधिक विस्तार होगा त्यों-त्यों आवश्यकताएं भी और

आगे बढ़ती चली जावेंगी। फिर मानव इतना दिग्मूढ़ बन जायगा कि वह सही मार्ग पर पहुंच न सकेगा।

अशान्ति-निवारण

उक्त समस्याको सुलझानेका सबसे सरल और सबसे कठिन एक मात्र उपाय आत्म-संयम ही है। उसके बिना आवश्यकता और साधनोंकी कमीका संघर्ष कालकवलित नहीं हो सकता। एक जाति, समाज या राष्ट्रकी भौतिक उन्नतिकी प्रतिस्पर्द्धा दूसरी जाति, समाज या राष्ट्रमें संक्रान्त होती है, आत्म-संयमकी नहीं। कारण, भौतिक उन्नतिके भवनका निर्माण आसक्तिकी ईंटोंसे होता है। जहां आसक्ति है, राग-द्वेषका प्राबल्य है, और है तव-ममका सीमातीत भेद, वहां उद्वेग है, संघर्ष है, दमन है, युद्ध है, अशान्ति है। लोभ-संवरणमें प्रवृत्तियोंका निरोध है, अनाशक्ति है, अतएव उसके लिए प्रतिस्पर्द्धा नहीं होती, अशान्ति और युद्ध नहीं होता। इससे हम बिना तोड-मोड़ किये इस निष्कर्ष पर पहुंच जाते है कि संयम हमारे जीवनकी सबसे बड़ी आवश्यकता है, सबसे बड़ी धनराशि है और वह प्रत्येक व्यक्तिकी अपनी निजी सम्पत्ति है। उसपर दूसरा कोई अधिकार नहीं कर सकता। उसमें ही हमारी शान्ति और सुखके बीज निहित है। बाहरी वस्तुएं, भोगोपभोगके साधन हमारी निजी सम्पत्ति नहीं है। उनका संग्रह करनेके लिये—हम अशान्ति और युद्धका बवंडर खड़ा करते हैं और स्वयं ही उसका दुष्परिणाम भोगते है। युद्ध

तलवारों, बन्दूकों, मशीनगनों और अणुबमोंमें नहीं है। वह मानवके दिल और दिमागमें है। मानव जब चाहते हैं तब लड़ाई का भूत खड़ा कर लेते हैं। इसीलिये गौतम स्वामीने कहा था—

"एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जियादस।
दसहाउ जिणित्त.ण, सव्व सत्त जिणामहं।"

एक मनको जीतता हूं—तब क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार शत्रुओं पर विजय पा लेता हूं। इनपर विजय पाते ही पांच इन्द्रियोंको जीत लेता हूं—इस प्रकार सब शत्रुओंको जीत लेता हूं।

तात्पर्य यह है कि मन ही सबसे बड़ा शत्रु है। "मन एव मनुष्याणां, कारणं बंधमोक्षयोः।" अथवा "अप्पामित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिअं सुप्पट्ठिअ" अर्थात् सुप्रास्थित मन मित्र है और दुःप्रास्थित मन शत्रु है। अशान्ति और शान्तिका उपादान मन ही है। मनको शुद्ध और सरल बनाना आवश्यक है। यदि ऐसा हो जाय तो लाख अणुबमोंके होते हुए भी एक विस्फोट नहीं हो सकता। यदि सही अर्थमें सुख और शान्तिकी आकांक्षा है तो व्यक्ति-व्यक्ति आत्म-संयमका अभ्यास करे, लोभ संवरण करे, आवश्यकताओंको कम करे।

लालसा और शान्ति

"हे धीर! तू आशा और स्वच्छन्दताको त्याग दे। इन दोनों कांटोंके कारण ही तू भटकता रहता है। जिसे तू सुखका साधन

समझना है, वही दुःखका कारण है।" बाह्य पदार्थोंमें बन्धकर प्राणी सुख नहीं पा सकता। पिंजड़ा चाहे सोनेका हो, आखिर वह बन्धन ही है। आत्म-व्यतिरिक्त पदार्थमें आसक्त होना वस्तुतः सुख नहीं। 'सर्वं परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखम्।" सुखकी अधिक लालसा भी सुखका कारण नहीं, प्रत्युत दुःखका कारण बनती है। भौतिक मूर्च्छा एक प्रकारकी तन्द्रा है। मनुष्य जितना अधिक उसके अन्तरमें घुसता है, उतना ही अधिक भान भूल जाता है। सद् असद्का विवेक खो बैठता है। भौतिक साधनोंका अतर्कित विस्तार होने पर भी सुख और शांतिकी मांग बढ़ती जा रही है, क्या इससे हम यह नहीं जान सकते कि भौतिक पदार्थ सचमुच सुख शान्तिके साधन नहीं है। यदि होते तो आजका विश्व अशान्त क्यों कहा जाता? इसलिए अब भी सम्भलना होगा। सुख और शान्तिके वास्तविक स्वरूपको पह-चानना होगा।

भावी समाजकी नींव

आजके समाज-निर्माता नव-निर्माणमें तटपर खड़े हैं। वे प्राचीन शृङ्खलाओंको तोड़कर समाजको समृद्ध, सुखी और सम-स्थितिक बनाना चाहते हैं। उन्हें इससे पहले सुख और समृद्ध का स्वरूप जानना परम आवश्यक है। जिस समाजकी नींव हिंसा, और भौतिक लालसामय होती है वह साम्यकी स्थितिको रख नहीं सकता। पर-नियन्त्रण, पर-अधिकार-हरण, दमन और

साम्राज्य-विस्तारकी भावनासे बच नहीं सकता। भौतिक पदार्थों के बिना जीवनका निर्वाह नहीं होता, यह सुनिश्चित है। पर, आवश्यकताओंकी एक सीमा होती है, प्रयोजन होता है। जिस आवश्यकतासे दूसरेका अधिकार छीना जाता हो या उसमें बाधा पहुंचती हो, वह आवश्यकता नहीं रहती—अनधिकार चेष्टा हो जाती है। अहिंसा, सत्य और अपरिग्रहकी भित्तिपर अवस्थित समाज चिर समृद्ध और चिर सुखी रह सकता है। उसे अपने नैतिक पतनका कभी सन्देह नहीं होता। आज ऐसे आध्यात्मिक समाज-रचनाकी आवश्यकता है जिसमें पैसेका महत्त्व नहीं, त्यागका महत्त्व रहे। प्रत्येक व्यक्ति अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहको आदर्श माने और इनको यथाशक्ति व्रतोंके रूपमें पालनेका प्रयत्न करे। न तो अमित व्यय हो और न अमित संग्रह। भोग-साधनोंकी उत्कट लालसा न रखे। अनिवार्य आवश्यकताओंको भी क्रमशः कम करनेका लक्ष्य रखे। आत्म-नियन्त्रण, इन्द्रिय विजय और मनोविजयमें सफलता और उन्नतिका अनुभव करे। शान्ति और सद्भावनामें विश्वास रखे। अधिकार और पदका लोभ न करे और भौतिक प्रतिस्पर्द्धा न रखे।

सुधारका केंद्र : व्यक्ति या समष्टि

कई व्यक्ति या वाद व्यक्तिगत उन्नतिसे समष्टिकी उन्नतिका विश्वास करते हैं और कई कहते हैं कि व्यक्ति-व्यक्तिके सुधारसे

समष्टिका सुधार सम्भव नहीं होता। समष्टिगत सुधार करनेसे व्यक्तिका सुधार तो अपने आप हो जाता है। खैर, मैं विवादमें जाना नहीं चाहता। सुधार व्यक्तिगत और जातिगत दोनों प्रकारके होते हैं फिर भी दोनोंकी स्थिति-एकसी नहीं होती। व्यक्तिगत सुधार हृदय परिवर्तनपूर्वक होता है, इसलिये वह स्थायी स्वतन्त्र और आत्मिक होता है। समष्टिगत सुधार बलात्कृत होता है, इसलिए वह अस्थायी, परतन्त्र और अनात्मीय होता है। प्रारम्भिक शिक्षा और पारिपार्श्विक विशुद्ध वातावरणसे यह कार्य सरलतया सम्पन्न हो सकता है। एक-एक व्यक्ति आध्यात्मिक शिक्षा पाता रहे तो समाज आध्यात्मिक बन सकता है। चाहे व्यक्ति सुधार माने, चाहे समष्टि-सुधार प्रणाली, कोई भी हो वस्तुतः लक्ष्य-वेध होना चाहिये। संयमकी शिक्षा मिलनी चाहिये, चाहे वह कैसे ही व्यक्ति या समष्टिके रूपमें क्यों न मिले? इसके बिना भौतिक पदार्थ सम्बन्धी प्रतिस्पर्द्धाका अन्त नहीं हो सकता। जब तक मानव-मानव भौतिक उन्नति को एक दौड़ मानते हैं—इससे पीछे रहनेमें अपना अपमान समझते हैं, वे आध्यात्मिक क्षेत्रमे—संयम-मार्गमें प्रवेश नहीं पा सकते। हमें जनताको भलीभांति यह समझाना होगा—उसके हृदयमें यह बात बैठानी होगी कि भौतिक दौड़ में आगे बढ़ना कोई बड़प्पन नहीं है। इससे अशान्ति और उत्तेजनाका प्रसार होता है। संयमप्रधान समाज अजेय होता है। उसे कोई परास्त नहीं कर सकता। संयमसे आत्मबलका विकास होता है। उससे

अन्यायके प्रति असहयोगकी शक्ति उत्पन्न होती है। ऐसी स्थितिमें भौतिक शक्तियां कुछ भी कार्यकर नहीं हो सकती हैं। पहले पहल साधनामें कुछ कठिनाईका अनुभव होता है—चाकचिक्यपूर्ण दुनियासे सीधी सादी दुनियामें जा बसना सहज हो भी कैसे सकता है? इन क्षणिक प्रदर्शनों एवम् दुःखद लिप्साओं का संवरण करनेवाला समाज अशान्तिसे उद्वेलित नहीं होता। "संयम ही सच्चा सुख और सच्ची शान्ति है"—कितना अच्छा हो यदि यह तत्त्व हृदयंगम हो जाय।

अपना बचाव, अपनी अनुकम्पा और अपनी सत्ताके लिये मनुष्य अधीर नहीं है। परानुकम्पी होनेसे पहले आत्मानुकम्पी होना नितान्त आवश्यक है। आत्मानुकम्पी ही सही अर्थोंमें अपना सुधार कर सकता है। स्वयं सुधरे बिना दूसरेके सुधार की सोचना, कल्पनाकी उड़ानसे अधिक मूल्य नहीं रखता। इसको प्रत्येक व्यक्ति गहराईसे सोचे और समझे।

पारदर्शित्व

यास है। कार्यकालकी ओर विचारोंका झुकाव है, परिणामकी ओर नहीं। कई विष फल स्पर्शमें कोमल, देखनेमें सुन्दर और खानेमें मधुर होते है पर, खानेका परिणाम होता है—मृत्यु। पदार्थकी अच्छाई या बुराई, उपयोगिता या अनुपयोगिताका मानदण्ड उसका विपाक होता है। जिसका विपाक अहितकर होता है वह आदर और श्रद्धाके योग्य नहीं होता। प्रारम्भ भले ही कटु हो, अन्तिम परिणाम सुन्दर होता है— वस्तुतः वही उपयोगी है। भौतिक साधनाओंके आरम्भकालमें शेखचिल्लीकी कल्पनाओंसे भी ज्यादा मिठास होता है, किन्तु अन्तमे पराजित सम्राटके हृदय जैसी कटु बन जाती है। संसारवासी भौतिक सुखोंसे सर्वथा विमुख बन जाय, यह आकाशदर्शन जैसी कल्पना है। फिर भी उनके लिये जो असीम दौड़ धूप, अनन्त आसक्ति है, वह उपादेय नहीं—यह सघन आवरण है—मजबूत घूघट है। इससे पारदर्शनकी शक्ति नष्ट हो जाती है—घूघट परे की दुनियाका लोप हो जाता है। इसलिये आज सबसे पहले प्रयत्नोंकी आवश्यकता है जो इस पर्देको दूर कर सके। मनुष्य स्रष्टा है। वह जैसा वातावरण पैदा करता है वैसी परिस्थिति बन जाती है। प्रत्येक शान्तिप्रिय मानवका कर्त्तव्य है कि वह वातावरणमें संयमका बीज बोवे।

द्विकर संयोग

समाज और राज्य दोनोंमें आध्यात्मिकता लानेकी आवश्यकता है। एकके अस्वास्थ्यका प्रभाव दूसरे पर पड़े बिना नहीं

रहता। समाज राज्यके नियमोंका हृदयसे पालन करे अथवा शासन अधिकारी स्वयम् अर्थलोलुप बन कर अन्यायके पोषक बन जावें—इस दशामें अव्यवस्थाका प्रसार होता है। केवल समाज या केवल राज्यसे व्यवस्था नहीं होती। दोनोंके नीति-पूर्ण मानससे ही परस्पर स्वस्थ सम्बन्ध कायम हो सकते हैं। इसके लिये दोनोंको ही संयम, अहिंसा और अपरिग्रहका अभ्यास करना आवश्यक है। आज अन्न-वस्त्र नियन्त्रण-व्यवस्थाके द्वारा कितना भ्रष्टाचार फैला हुआ है—इसका कारण क्या? वही आध्यात्मिकताका अभाव। सबके सब संग्रहके लिये तुले हुए हैं—अशान्ति और अव्यवस्थाके अङ्ग बने हुए हैं। नियम-निर्माता नियमोंकी उपयोगिता एवम् चातुःपार्श्विक स्थितिका ध्यान न रखे उस स्थितिमें उनका प्रतिफल क्या होता है? इसका सद्यस्क उदाहरण खाद्य आदि वस्तु नियन्त्रण और उसकी गोदमें पलनेवाला भ्रष्टाचार है।

शांतिके कुछ साधन

यदि निम्नलिखित सूत्रों पर जनता ध्यान दे—शान्ति लाभके लिये कुछ अपना बलिदान करे—तो मुझे दृढ़ विश्वास है कि आत्मामें शान्तिका तार झनझना उठेगा—

१—समाज रचनाका मूल आधार सत्य और अहिंसा रहे।

२—अहिंसा दार्शनिक तत्त्वके रूपमें नहीं—आचरणके रूपमें स्वीकार की जाय।

३—पशुबलका मुकाबिला पशुबलसे न किया जाय।

४—अहिंसा और अपरिग्रहका वातावरण बनाया जाय (जनता उत्पादन बढ़ानेकी आवश्यकता अनुभव करती है, किन्तु अहिंसा और अपरिग्रहका वातावरण उत्पन्न करना सबसे महान् और सबसे आवश्यक उत्पादन है तथा उस उत्पादन की कमीको दूर करनेवाला है।)

५—अर्थसंग्रह न किया जाय, किसी प्रकारसे भी आर्थिक शोषण न किया जाय।

६—जीवनकी आवश्यकताओंका विस्तार न किया जाय, दूसरे की आवश्यकताओं पर अधिकार न किया जाय।

७—भौतिक सुख-सुविधाओंको प्राधान्य देनेवाले तथा भौतिक शक्तियोंमें विश्वास रखनेवाले समाज, जाति या राष्ट्रसे प्रतिस्पर्द्धा न की जाय।

८—व्यक्ति-व्यक्तिको संयम और आध्यात्मिकताकी शिक्षा दी जाय। भौतिक शिक्षाके बिना गृहस्थ जीवनका औचित्यपूर्ण निर्वाह नहीं होता इसलिये सामाजिक प्राणी उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता, नियन्त्रण रखनेके लिये उसके साथ आध्यात्मिक शिक्षाका होना जीवनकी अनिवार्यतम आवश्यकता है।

९—अपना सिद्धान्त दूसरे पर जबरदस्ती न थोपा जाय। सैद्धान्तिक मतभेदोंके कारण अनुचित व्यवहार न किया जाय।

१०—राजनीतिक सत्ता या पदप्राप्तिका लोभ न रखा जाय।

११—प्रतिशोधकी भावनासे किसीको भी दण्ड न दिया जाय। (क्योंकि चिकित्सा तुल्य दण्ड-विधि ही उचित मानी जाती है।)

१२—जातिगत या सम्प्रदायगत संघर्षोंको प्रोत्साह न दिया जाय।

१३—जिससे कम लाभ और अधिक अत्याचार हो, ऐसे नियमों का निर्माण न किया जाय।

मैं नहीं मानता कि कोई भी मनुष्य अशान्ति चाहता है। सब सुख-शान्तिके अर्थी हैं। समरभूमिको रक्त-रञ्जित करनेवाले सेनानी भी शान्तिके लिये लड़े—ऐसा कहा जाता है, सुना जाता है। यह क्या और कैसी शान्ति है ? कुछ समझमें नहीं आता। अपनी शान्तिके लिये दूसरेकी शान्तिका अपहरण मत करो—यही सच्ची शान्ति है। क्षणिक शान्तिके लिये स्थायी शान्तिको खतरेमें मत डालो—इसका नाम है सच्ची शान्ति। शान्तिके लिये अशान्तिको उत्पन्न मत करो—यह है—सच्ची शान्ति। शान्तिके इच्छुक हो तो शान्तिके पथ पर चलो—यही सच्ची शान्तिका सही रास्ता है।

[शान्तिनिकेतनमें आयोजित विश्व-शान्ति-सम्मेलन के अवसर पर]

धर्म—सब कुछ है, कुछ भी नहीं

शान्ति और अशान्ति दोनोंका पिता मानव है। अन्तर्जगत्मे शान्तिका अविरल स्रोत बहता है फिर भी बाहरी वस्तुओंके लुभावने आकर्षणने मानवका मन खींच लिया। अब वह उनको पानेकी धुनमे फिर रहा है, बस यहीं अशान्तिका जन्म होता है। मानव अपने आपको भूल जाता है, शान्ति भी अपना मुंह छिपा लेती है। आजका मानव कस्तूरीवाले हरिणकी भांति शांतिकी खोजमे दौड़-धूप कर रहा है किन्तु उसे समझना चाहिये कि शान्ति अपने आपमे साध्य और अपने आपमे साधन है। वह कहीं बाह्यजगत्में नहीं रहती और न बाहरी वस्तुओंसे वह मिल भी सकती है। यह धार्मिक सम्मेलन फिर इस तत्त्वको जनताके हृदय तक पहुंचाए, यह मेरी हार्दिक अभिलाषा है। तृष्णाका ग्रास बना हुआ मानव सार्वभौम चक्रवर्ती होने पर भी सुखी नहीं होता और सन्तोषी मानव अकिंचन होते हुए भी सुखी रहता है, इससे जाना जाता है कि परिग्रहमे शान्ति नहीं है। भगवान् महावीरने कहा है, 'परिग्रह जैसा दूसरा कोई बंधन नहीं।'

संसारी प्राणी सर्वथा अपरिग्रही बन जायें, यह दुरूह कल्पना है फिर भी यदि वे जीवनके साधनोंको कमसे कम करनेकी चेष्टा कर, संग्रहको अनर्थका मूल मानें तो समझलो कि शान्ति दूर नहीं है। समूचे विश्व पर अधिकार जमानेवाला एक मुहूर्तमात्र भी सुखकी नींद नहीं सोता, प्राणीमात्रको आत्मतुल्य समझनेवाला तृणमात्र भी उद्विग्न नहीं होता—इससे जाना जाता है कि हिंसामें शान्ति नहीं है। इसलिए 'समूचा संसार हमारा मित्र है, किसीके साथ हमारा वैर-विरोध नहीं है'—शान्तिप्रिय व्यक्तियोंका यह महामन्त्र होता है। गृहस्थ व्यक्ति भी यदि निष्प्रयोजन हिंसा न करे, दूसरोंके अधिकारोंका अपहरण न करे, तो विश्वशांतिका अन्वेषण ही क्यों करना पड़े? जो व्यक्ति इन्द्रिय, मन और वाणी पर नियन्त्रण नहीं रख पाते वे ही कलह आदिको जन्म देते हैं—इससे जाना जाता है कि असंयममें शांति नहीं है। इसलिए वीतराग वाणीमें अहिंसा, संयम और तपस्याको धर्म बताया गया है। धर्मके बिना—दूसरे शब्दोंमें, अहिंसा, संयम और अपरिग्रहके बिना शांतिका कोई बीज नहीं है। यह घोषित करते हुए मुझे आत्मश्रद्धाका अनुभव हो रहा है। यदि जनता शान्तिका अर्थ जीवनके साधनोंका विस्तार करती है तो उसके लिए धर्म कुछ भी कार्यकर नहीं। वह दिन मानव-जातिके इतिहासमें अपूर्व होगा, जिस दिन धर्मका शुद्ध रूप जनताके हृदयमें प्रवेश पाएगा।

जहां तक सत्यान्वेषणका प्रश्न है—वहांतक धर्म और विज्ञान के लक्ष्य दो नहीं हैं। मानव जातिका विकास करना, उसे सुखी

बनाना, ये लक्ष्य धर्म और विज्ञानके बीच एक भींत खड़ी कर देते है। आत्मा और परम लक्ष्य-परमात्म स्वरूप पाना, इनको भुला-कर विज्ञान-जगत्‌ने धार्मिक जगत्‌की कोई हानि नहीं की अपितु विज्ञानको ही अपने आपके लिए अभिशाप बनाया है। यदि इसके साथ आत्मविकास और आत्मसुखका दृष्टिकोण सन्तुलित होता तो वर्तमान संसारका मानचित्र कुछ दूसरा ही दीखता।

इस समय मानव-समाजके सामने जटिल समस्याओंका तांता सा जुड़ा हुआ है—यह सब जानते है। अन्न और वस्त्रकी कमी तथा दारिद्र्य आदि समस्याओंको गिन-गिन कई व्यक्तियोंने सम्भवत. अंगुलिया घिस डालीं। किन्तु मेरी दृष्टिमे मानसिक समस्या जैसी जटिल है वैसी जटिल दूसरी कोई भी नहीं है। दूसरी समस्याएँ इसके आधार पर टिकी हुई है। मानसिक सम-स्याके मिटने पर अन्न, वस्त्र, दारिद्र्य आदि की समस्याएँ आज सुलझ सकती है। शिक्षामें आध्यात्मिक तत्त्व आ जाय, लोग संयमी पुरुषोंको सबसे महान् समझने लग जाय तो ये सब समस्याएँ उनके कारण अपनी मौत मर जाय—यह मुझे विश्वास है।

पुराने जमानेमे जब संयमको लोग धनसे अधिक मूल्यवान् समझते थे, तब जनतामे संग्रहकी भावना प्रबल नहीं होती थी। हिंसा, परिग्रह आदि जब जनताके जीवन-निर्वाहकी परिधिको लाघकर तृष्णाके क्षेत्रमें आ जाते है तब सामूहिक अशान्तिका जन्म होता है। इसलिए धार्मिक पुरुष उनकी इयत्ता करें—सीमा

करें और दूसरोंसे करवायें—यही सबके लिए श्रेयस्-मार्ग है। 'अमुक परिमाणसे अधिक हिंसा मत करो, संग्रह मत करो' ऐसा व्यापक प्रचार किया जाय तो धर्मकी छत्रछायामें जगत्की सारी गुत्थियां सुलझ जायं, ऐसी मेरी धारणा है। विषयका उपसंहार करते हुए यदि मैं कहूं तो यही कहूंगा कि यदि धर्मका आचरण किया जाय तो वह विश्वको सुखी करनेके लिए सर्व शक्तिमान् है और यदि धर्मका आचरण न किया जाय तो वह कुछ भी नहीं कर सकता। इसलिए धर्मका अन्वेषण करनेवालोंको आत्म-नियन्त्रणका अभ्यास करना चाहिए—इसीसे धर्मकी सफल आराधना हो सकती है।

[जनवरी सन् १९५० के दिल्ली के 'सर्व धर्म सम्मेलन' के अवसरपर]

तत्त्व क्या है ?

मानव की आत्मा में अमित प्रकाश है। उसमें अन्वेषण और पथ-दर्शन की शक्ति है। ज्ञान-विज्ञान का अक्षय कोष मानव बुद्धि का सुफल है। मानव की वाणी और विचारों ने साहित्य, दर्शन और विज्ञान को जन्म दिया। इसीलिए मानव शक्ति और अभिव्यक्ति का केन्द्र माना गया है। भौतिकवाद और अध्यात्म-वाद दोनों का स्रष्टा मानव है। बाह्य दृष्टि वाले व्यक्तियों ने चेतन सत्ता को भुला कर जड़ शक्ति में विश्वास किया और आत्मा का अस्तित्व मानने वाले बाहरी शक्तियों का अनुभव करते हुए भी अन्तरंग-अन्वेषण से विमुख न हुए।

दो दृष्टियां

जीवन क्या है, हम क्या हैं, संसार क्या है; ऐसे प्रश्न उठे और समाहित हुए। समाधान में दोनों वादों ने भाग लिया। भौतिकवादी वर्ग जड़शक्ति का प्राधान्य मानकर सब कुछ सुलझाने की चेष्टाएं कर रहा है। आत्मवादियों का दृष्टि बिन्दु आत्मा

पर टिका हुआ है और वे उस चेतन अरूपी सत्ता के सहारे जटिल गुत्थियां सुलझाते हैं। भौतिकवाद की जड़ में वर्तमान जीवन का ही मूल्य आंका जाता है इसलिए वहां मुड़कर या आगे बढ़कर दृष्टि दौड़ाने की आवश्यकता नहीं रहती। अध्यात्मवाद की भित्ति आत्मा है। आत्मा के साथ जन्मान्तर कर्म, स्वर्ग, नरक और मोक्ष की कड़ियां जुड़ी हुई हैं। अतीत के जीवन भुलाये नहीं जा सकते और भविष्य-जीवन की ओरसे आंखें नहीं मुंदी जा सकतीं। आध्यात्मिक क्षेत्र में धर्म-कर्म, कल्पना की सृष्टि नहीं, वे तात्त्विक तथ्य हैं।

आज के युग का प्रमुख दृष्टिकोण जड़वादी है। उसमें त्याग और संयम की प्रमुखता नहीं है। त्याग का प्रयोग किया जाता है पर संयम के लिए नहीं, भोग की वृद्धिके लिए। भोग-सामग्री की कमी हो, जीवनके उपयोगी साधन सबको सुलभ न हों, उसी दशामें दूसरों के लिए अपनी सुख-सुविधाओंका त्याग करना उनका लक्ष्य है। आध्यात्मिक त्याग का उद्देश्य आत्म-संयम है। विश्व का प्रत्येक प्राणी सुख-साधनों से फलाफूला हो, ऐश्वर्य से बन रहा हो, धन-वैभवसे लद रहा हो तो भी आध्यात्मिक व्यक्ति अपनी आत्मा की शुद्धि के लिए भोगमय सुख-साधनों को ठुकराता हुआ आत्म-संयम के पथ पर अग्रसर होता है। भौतिकवाद में समानता की भावना है, फिर भी उसमें अहिंसा के लिए कोई स्थान नहीं। समानता भी भौतिकता तक सीमित है। आत्मवादी भौतिक समानता के उपरान्त भी हिंसा के दोष से

बचना चाहता है। इन दोनों मे क्या और कितना भेद है, उसका पूर्वदर्शित प्रणाली के अनुसार सरलता से पता लगाया जा सकता है।

धर्म और विज्ञान

आज का युग विज्ञान के इंगित पर चल रहा है। उसकी हां और नां की प्रतिध्वनि मे ही लोग अपना श्रेय समझते है। मुझे विज्ञान अप्रिय नहीं और न मैं उसे घृणा की दृष्टि से देखता हूं। फिर भी उसमें जो त्रुटि है, वह तो कहना ही चाहिए। दोष अन्ततः दोष ही है, चाहे वह कहीं भी क्यों न हो। वर्तमान विज्ञान भौतिकवादी दृष्टिकोण के सहारे पनपा है इसलिए वह जड़ तत्त्वों की छानबीन में लगा हुआ है। आत्म-अन्वेषण से उदासीन है। यदि यह बात न होती तो आज इतना संघर्ष न हुआ होता। भौतिकता स्वार्थमूलक है। स्वार्थ-साधना मे संघर्ष हुए बिना नहीं रहते। आध्यात्मिकता का लक्ष्य परमार्थ है—इस लिए वहां संघर्षों का अन्त होता है। यह सच है कि संसारी प्राणी पौद्गलिक वस्तुओं से पूर्णतया सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर सकते फिर भी उन पर नियन्त्रण करना आवश्यक है। धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व नियन्ता नही हो सकता।

धर्म की आत्मा

धर्म विशाल-हृदय है। अहिंसा उसकी आत्मा है—प्राणीमात्र के साथ विरोध न करो, उनको आत्मवत् समझो। हिंसा मृत्यु

है, मोह बन्धन है, वैर है। जो दूसरे की हिंसा करता है, वह अपना वैर बढ़ाता है। विज्ञान ने बड़े २ घातक और डरावने अस्त्र उत्पन्न किये हैं। उनसे भय बढ़ा, आतंक बढ़ा और आशंकाएं बढ़ीं। एक समाज दूसरे समाजको, एक जाति दूसरी जाति को और एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को संदिग्ध दृष्टि से निहार रहा है। हिंसा ने संसार का सारा खाका ही बदल डाला। सिंह भय के मारे भागा जा रहा है कि कहीं काले माथेवाला मुझे मार न डाले। मनुष्य इस भय से भागा जा रहा है कि कहीं बाघ मुझे खा न जाये। आजके संसार की भी यही मनोदशा है ? इस स्थिति में कौन अभय दे सकता है—आशंका की लपट में झुलसते आये जगत् को उबार सकता है ? इस ओर जनता ध्यान दे, सोचे और समझे।

धर्म का जीवन

सन्तोष धर्म का जीवन है। इच्छा आकाशके समान अनन्त है। उसे सीमित करो। संग्रहभावना मत रक्खो। अधिक संग्रह से जीवन अधिक दुःखी बनेगा। परिग्रह के साथ माया; कपट, अभिमान, दंह और दुर्भावनाएं बढ़ती हैं। सारे लोकमें परिग्रह के समान दूसरी निविड़ जंजीर कोई नहीं। अर्थलोलुपता आज चरम सीमा पर पहुंची हुई है। दुनियां के बड़े २ मस्तिष्क अर्थोपार्जन की व्यायाम-विधि में संलग्न हैं। एक दूसरे को हड़पना चाहता है—निगलना चाहता है। भूमि इतनी कृपण नहीं बनी

है, जितनी मानव की जठराग्नि तेज बनी है। वह अनन्त धनराशि को पचा सकती है। सामग्री अल्प है। भोक्ता अधिक है। संचय की भावना उनसे भी अधिक है। इसलिए तो वर्ग युद्ध छिड़ रहा है। नये-नये वाद जन्म ले रहे हैं। स्पर्धा और संघर्ष की चिनगारिया उछल रही है। आश्चर्य है, दुनिया इस ओर ध्यान नहीं देती कि धन केवल जीवन-निर्वाह का साधन है, साध्य नहीं। साध्य तो कुछ और ही है। सब प्राणी सुख चाहते हैं। यह उनका साध्य है। सुख आत्मा का धर्म है, शरीर का नहीं। वह संतोष से पैदा होता है, धन से नहीं, चेतो। अब भी चेतो !! शुष्क बुद्धिवाद में जीवन की बहुमूल्य घड़िया योंही मत खोओ।

गडुरी-प्रवाह

लोग कहते हैं—यह तर्कवादी युग है। मुझे लगता है—यह युग अनुकरण-प्रेमी है। अनुकरण और तर्क की जोड़ी नहीं बनती। भेड़ एक पशु है। उनकी अनुकरण क्रिया क्षम्य हो सकती है। एक भेड़ के पीछे अनेक भेड़े बोलें, यह नहीं अखरता। बुद्धिशील मानव बिना सोचे-समझे, किसी की हां मे हा मिलावे, यह अखरने जैसी बात है। कुछ भौतिकवादियों ने धर्मको अफीम कहा तो बहुत सारे लोग इस प्रवाह मे बह चले। धर्म अफीम क्यों है ? धर्म अनावश्यक क्यों है ? यह भी कभी सोचा ? यदि सोचा तो उसमें अफीम जैसी क्या वस्तु मिली। रोग सोहन के

है और इलाज मोहन का किया जाय, यह विफल चेष्टा है। धर्म से न तो खून की नदियां बहीं और न लड़ाइयां ही हुईं। धर्म ने न तो धन के कोष जमा किये और न गगनचुम्बी अट्टालियाएं खड़ी कीं। यह सब स्वार्थ की काली-करतूतें हैं। स्वार्थियों के हथकण्डे हैं। उन्होंने धर्म को अपनी स्वार्थ-सिद्धि का साधन बनाया और उसके नाम पर बड़े बड़े अन्याय एवं अत्याचार किये। उनके स्वार्थ सधे, धर्म बदनाम हुआ। लोगों की उस पर से आस्था हटी। धर्म हिंसा और परिग्रह का सबसे बड़ा विरोधी है। उससे हमें शान्ति, सद्भावना और विश्व-मैत्री का सन्देश मिला है। धर्म-वाक्यों ने परिग्रह की जितनी भर्त्सना की है, उतनी किसी भी वाद ने नहीं की। सभी वाद धन के लोलुप हैं। "धन तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकता, धन दुःख का हेतु है, अनर्थ का मूल है", ये वाक्य धार्मिक क्षेत्र के सिवाय और कहीं भी नहीं मिल सकते। धर्म से घृणा मत करो—डरो नहीं। धर्म के नाम पर जो विकार फैला हुआ है, उसकी शस्त्र-चिकित्सा कर डालो। धर्म सोना है, उसे उठा लो, ले लो। वह उपेक्षा की वस्तु नहीं।

धर्म क्या है ?

परोक्ष रूप से धर्म का स्वरूप कई बार आ चुका है। प्रत्यक्षतः उसका पारिभाषिक रूप जान लेना चाहिए। "आत्म-शुद्धि-साधनं धर्मः" आत्म-शुद्धि के साधन—अहिंसा, संयम और

तपस्यार्थ, ये धर्म है। व्यवहार में धर्म अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन पाच रूपों में अवतरित होता है। क्षमा सहिष्णुता, नम्रता, आदि गुण इसके परिवार है। धर्म व्यक्ति-निष्ठ है। धर्म का चरम लक्ष्य मोक्ष है। इसका अर्थ यह नहीं कि वर्तमान जीवन में उसका कुछ फल ही नहीं होता। धर्म-निष्ठ व्यक्ति अपना जीवन-स्तर ऊंचा उठा सकता है। मैं उस जीवन-स्तर को ऊंचा मानता हूं, जो अधिक से अधिक त्यागपूर्ण और संतोषमय हो। जिनकी जीवन-आवश्यकताएं बढ़ी-चढ़ी है, जिन्हें भोग-साधन अधिक उपलब्ध है, मैं उनका जीवन-स्तर ऊंचा नहीं मानता क्योंकि वस्तुतः वे सुखी नहीं है। अधिक आवश्यकताओं मे सुख कम होता है और कम आवश्यकताओं में सुख की मात्रा बढ़ती है। अधिक आवश्यकतावाले व्यक्ति समाज या राष्ट्रके शोषक हुए बिना नहीं रह सकते।

ध्यान दो

धर्मके विषयमें मनुष्य जितना भ्रान्त है, उतना संभवतः अन्य विषयों में नहीं है। इसलिए धर्म के कुछ अङ्गो का सूत्र-रूप में संकलन करना उचित होगा। जो आत्म-शुद्धि का साधन है, वह धर्म है। धर्म-स्वरूप है—त्याग और तपस्या। धर्म व्यक्ति से पृथक् नहीं है। धर्म का आश्रय वह व्यक्ति है, जो अहिंसक और सन्तुष्ट है। धर्म से आचरण पवित्र होते है। धर्म प्रेम या स्नेह से ऊपर की वस्तु है। वह समता से ओत-प्रोत है। धर्म

का लक्ष्य भौतिक सुख-प्राप्ति नहीं, आत्म-विकास है। धर्म प्रत्येक भौतिक कर्तव्य को सीमित करता है। धर्म परलोक के लिए नहीं, जीवन के प्रत्येक क्षण को सुधारने के लिए है। धर्म धनिक एवं उच्च-वर्गवालोंके लिए ही नहीं अपितु सबके लिए है। धर्म सबके लिए एक है, इसमें 'तव', 'मम' का भेद नहीं हो सकता। धर्म साधनाके लिए धन आवश्यक नहीं, शुद्ध भावना एवं सरलता आवश्यक है। ऊपर की पंक्तियोंमें मैंने जिस धर्मका उल्लेख किया है, वह स्थायी है, उपकारी है, जन-जनके लिए आदरणीय है।

एक पहेली

वर्तमान राजनैतिक-वातावरण अति विषाक्त है। उसका विषैला असर सब क्षेत्रोंको छू रहा है। धर्म भी उससे वंचित नहीं है। स्वार्थकी भूमिकाओंमें पले-पुसे राजनैतिक-वाद धर्मका नाश करने को तुले हुए हैं। भौतिक सुख-समृद्धिके लिये आत्माका अस्तित्व मिटाने का दृढ़ संकल्प किए हुए हैं। नास्तिकताके काले बादल अतीतकी अपेक्षा आज घने और गहरे हैं। इस दशामें यदि धार्मिकोंने धर्मकी मौलिकता पर ध्यान न दिया तो उन्हें भयंकर विपत्तियां झेलनी पड़ेंगी। जनतामें धर्मकी आस्था है। धर्म बहुत प्रिय है पर रोटीका प्रश्न सुलझानेकी ओटमें जो नास्तिकताका प्रचार किया जा रहा है, धर्म पर गूढ़ प्रहार किया जा रहा है, वह उपेक्षाकी वस्तु नहीं है।

चेतावनी

मैं उन राजनीतिज्ञोंको भी एक चेतावनी देता हूं कि वे हिंसात्मक क्रान्ति ही सब समस्याओंका समुचित साधन है, इस भ्रांति को निकाल फेंके। अन्यथा स्वयं उन्हें कटु परिणाम भोगना होगा। स्थायी शान्तिके साधन अहिंसा, समता और हृदय परिवर्तन है। हिंसक क्रान्तियोंसे उच्छृङ्खलताका प्रसार होता है। आजके हिंसक से कलका हिंसक अधिक क्रूर होगा, अधिक सुख-लोलुप होगा। फिर कैसे शान्ति रह सकेगी—यह कम समझनेकी बात नहीं है। स्थितिचक्र परिवर्तनशील है। अहिंसा-हीन कोई भी वाद सुखद नहीं हो सकता यह निश्चित है। वर्ग-संघर्ष जैसी विकट समस्या अहिंसा और सन्तोषका समन्वय किये बिना स्थायी रूपसे सुलझ नहीं सकती, यह भी निश्चित है। हिंसावादी हिंसा छोड़े और परिग्रहवादी अर्थ-लोभ छोड़ें, तभी स्थिति साधारण हो सकती है। प्राणीमात्रको अब अहिंसा और परिग्रहकी मर्यादा समझनी है। हिंसा और परिग्रह का अभिनय करते-करते आजका मानव थक चुका है। अब उसे विश्रान्तिकी आवश्यकता है—शांतिकी इच्छा है।

तत्त्व यह है

मानव सुखका अर्थी है तो वह आत्माको पहचाने, अशान्ति की हेतुभूत भौतिक लालसाओंको त्यागे, धर्मका अन्वेषण करे। क्षणिक सुख-सुविधाओंके लिए शाश्वत तत्त्वको भूला देना बुद्धि-

मानी नहीं है। धर्म धनी और गरीब, मालिक और मजदूर, साम्राज्यवादी और साम्यवादी इन सबके लिए कल्याणका प्रशस्त पथ है। सब धार्मिक बनें, पौद्गलिक सुखोंमें अति आसक्त न बनें, यह जीवनका सबसे बड़ा गूढ़ रहस्य है। यही सत्य और सनातन तत्त्व है।

[बम्बई में आयोजित अखिल भारतवर्षीय प्राच्य-विद्या-सम्मेलनके अवसर पर]

विश्वकी विषम स्थिति

आजका विश्व भयानक परिस्थितियोमें संभ्रान्त है। युगान्तर में भी विश्वको कठिनाइयोंका सामना करना पडा। पर आज जैसी विषम और इतनी मात्रामें कठिनाइया पहले कभी सामने नहीं आई। आज राजनैतिक और सामाजिक तथा धार्मिक, प्रत्येक क्षेत्रमें समस्याओं, बाधाओं और उलझनोंकी भरमार है। राजनैतिक अपनी सत्ताके नशेमें पागल होकर भूखे भेड़ियेकी तरह दूसरों पर झपटते है, दूसरोंके अधिकार छीननेकी योजना बनाने में व्यस्त रहते है।

सामाजिक व्यक्तियोंमें भी स्वार्थ, अंहभाव और वैमनस्यकी प्रवृत्तियां कम नहीं है।

धर्ममें भी आडम्बर, दिखावा, कृत्रिमता आदि विकार घर कर गये। समझमें नहीं आता कि कौन किसे सुधारे? दुनियाका संकट कैसे टले?

राजनीति कूटनीति है। इसमें शान्ति और युद्ध दोनोंके लिये स्थान है। बहुसंख्यक राजनैतिक युद्धको शान्तिका कारण मानते है।

प्रायः सभी राष्ट्रोंने द्वितीय महायुद्धका उद्देश्य विश्व-शान्ति बतलाया।

एक विचारधारा ऐसी भी निकल पड़ी है कि संसारका इतिहास संघर्षोंका इतिहास है। शान्तिकालका अर्थ है, युद्धसामग्रीका निर्माण करना। यह विचारधारा उपादेय नहीं, फिर भी इसको एकान्त तथ्यहीन भी नहीं कहा जा सकता। इसकी आंशिक सत्यता तक पहुंचनेके लिए हमें वस्तुस्थितिका विश्लेषण करना होगा। युद्धकी या अशान्तिकी बाहरी समस्यायें अनेक हो सकती हैं। एक सामान्य घटना इनका निमित्त बन सकती है। पर, इनका उपादान क्या है, इस पर हमें विचार करना है। रोगका कारण खोजे बिना बाहरी उपचार कबतक कार्यकर होंगे।

भारतके धर्माचार्योंने ममत्व और अहंभावको क्लेश-बीज कहा है। जहां ममत्व है, वहां परत्व अवश्य होता है। परत्वसे अहंभावकी सृष्टि होती है। अपनेको सुखी, महान् और उच्च बनाने तथा समझनेकी भावना होती है, तब दूसरोंको दुःखी, हीन और नीच कहने या माननेकी प्रवृत्ति अपने आप बन जाती है। मानव-हृदयमें यह आग जलती रहती है। कुछ बहिरंग साधनोंको पाकर भभक जाती है, सामूहिक अशान्ति और युद्ध के रूपमें परिणत हो जाती है। इसलिये हमारे भारतीय आचार्यों ने राग-द्वेषको हिंसा और समता तथा लाघवको अहिंसा कहा है। वर्तमानमें अहिंसाकी दुहाई बहुत दी जाती है। इसके नाम कीप्रतिष्ठा भी है। परन्तु सचमुच उसका उपयोग नहीं होता,

जीवनमें लोग नहीं उतारते। अहिंसा सर्वभूतक्षेमकरी है, यदि उसे जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें स्थान दिया जाय। पर, यह कैसे सम्भव हो? बहुसंख्यक व्यक्ति हिंसाको विश्व नियम मान बैठे हैं। इस धारणाके आधार पर जीवनकी प्रत्येक समस्याको हिंसक उपायोंसे ही सुलझानेकी धुनमें रहते हैं। परिणाम यह होता है कि वे और अधिक उलझ जाते हैं। मम-तवके भेदभाव रहने तक कोई भी समस्या पूरी तरह सरल नहीं हो सकती, यह निर्विवाद सत्य है। इस स्थितिमे तटस्थ बुद्धि और निःस्वार्थ भावना का उद्भव सम्भव नहीं। यह भी सम्भव नहीं कि सर्वसाधारण वीतराग बन जाय, अपने स्वार्थोंकी बलि कर दे, भेदभावको भुला दे और जीवन-निर्वाहके लिये आवश्यक हिंसाको छोड़ दे।

अहिंसक समाजकी आधार शिला

मैं जानता हूं कि मार्ग सीधा नहीं है, कांटोंसे भरा है। फिर भी हमे उसे पार करना है। कोई बीचका मार्ग ढूंढ़ना है। सामूहिक अशान्तिको जन्म देनेवाली हिंसाको मिटा कर अहिंसक समाज अर्थात् अहिंसाप्रधान समाजका निर्माण करना है। उसकी आधारशिला निम्नलिखित या उसके निर्दिष्ट नियम होंगे—

(१) जाति, धर्म, सम्प्रदाय, देश, वर्ण, वाद आदिका भेद होनेके कारण किसी मानवकी हत्या न करना।

(२) दूसरे समाज या राष्ट्र पर आक्रमण न करना।

(३) निरपराध व्यक्तिको नहीं मारना।

(४) जीवनकी आवश्यकताओंके अतिरिक्त संग्रह न करना।

(५) मद्यपान और मांस भोजन नहीं करना।

(६) रक्षात्मक युद्धमें भी शत्रुपक्षीय नागरिकोंकी हत्या न करना।

(७) व्यभिचार न करना।

अहिंसक समाजकी प्रवृत्तियां

अहिंसक समाजकी स्थापनाके लिये निम्न प्रवृत्तियां आवश्यक हैं:-

(१) वर्तमान शिक्षा प्रणालीकी पुनर्रचना करना।

आज हमें संयमप्रधान शिक्षाप्रणालीकी आवश्यकता है। वर्तमान शिक्षाक्रमसे बुद्धिपाटव और तर्कशक्तिका विकास अवश्य होता है। पर, इससे चरित्रशील व्यक्ति पैदा नहीं होते। हमें बुद्धिप्राचुर्यकी अपेक्षा हृदय-पावित्र्यकी अधिक आवश्यकता है।

(२) संयमी पुरुषोंको महत्त्व देना।

सत्ताधारी और पूंजीपतियोंको महत्त्व देनेका अर्थ होता है, जन साधारणको पूंजी और सत्ताके लिये लोलुप बनाना। संयमको प्रधानता दी जाय, तो कोई आश्चर्य नहीं कि सत्ताधारी और पूंजीपति भी संयमकी ओर आकृष्ट हो जायें।

(३) जीवनका लक्ष्य बदलना।

भोग-विलासिता और उसकी जीवन-सामग्रीका विस्तार करना, सुख-सुविधाओंका अधिकाधिक उपयोग करना—यह

जीवनका लक्ष्य नहीं है। उसका लक्ष्य है बुद्धि और विवेकका सदुपयोग करना, चरित्रका विकास करना। वर्तमान दृष्टिकोण को बदलनेके लिए इन प्रवृत्तियोंके विस्तारकी आवश्यकता है। मैं चाहता हूं कि आप इन जनकल्याणकर प्रवृत्तियोंमें सहयोग दें।

पत्रकारका कर्तव्य

मुझे खेद है कि पत्रकार संयम और चरित्रका वातावरण उत्पन्न करनेकी ओर उतना ध्यान नहीं देते, जितना कि राजनैतिक स्पर्धा और चर्चाकी ओर देते हैं। मैं जानता हूं कि आजका युग राजनैतिक युग है। मैं यह भी कहे बिना नहीं रहूंगा कि राजनीतिका महत्त्व बढ़ाया किसने है? युगकी विचारधारा बदलनेमें पत्रकारोंका प्रमुख हाथ है। मुझे विश्वास है कि आप इन प्रवृत्तियोंकी उपेक्षा नहीं करेंगे। मेरा दृष्टिकोण समझेंगे।

मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि हमें कोई राजनैतिक या सामाजिक स्वार्थ नहीं साधना है। हमें जो कुछ कहना है, वह आत्म-कल्याण और जन-कल्याणके लिये ही कहना है।

मेरी संस्था और कार्यप्रणाली

अच्छा होगा कि मैं मेरी संस्था और कार्यप्रणालीका भी आपको थोड़ा परिचय कराऊं।

मैं जिस संस्थाका नेतृत्व कर रहा हूं, उसका नाम है 'तेरापंथ'। विक्रम सम्वत् १८१७ में इसकी स्थापना हुई। इसके संस्थापक थे

आचार्य भिक्षु। एक आचार्यके नेतृत्वमें अनुशासित और संगठित रहकर साधु-साध्वियां अहिंसक जीवन वितायें और जनसाधारण में अहिंसा धर्मका प्रचार करें—यह इस संस्थाका उद्देश्य है। मुझे हर्ष है कि यह उद्देश्य उद्देश्य तक ही सीमित नहीं, कार्यान्वित है। मेरे ६४० अहिंसक सैनिक इस प्रचार कार्यमें संलग्न हैं। समाजसे थोड़ा लेना और अधिक देना—इसका पूरा पालन करते हैं। साधु जीवन पूर्ण स्वावलम्बी है। वे निकम्मे नहीं रहते। सबके सब परिश्रमी और विद्या-रसिक हैं। हमारी शिक्षा-प्रणाली स्वतंत्र है। विद्या और सदाचार दोनों आपसमें एक दूसरेके पोषक रहें, इस दृष्टिसे इसका निर्माण हुआ है। साधु-साध्वियोंके १२१ ग्रुप्स हैं। वे भारतके विविन्न भागोंमें फैले हुए हैं। हम साम्प्रदायिकता और खण्डनात्मक नीतिमें विश्वास नहीं रखते।

तेरहसूत्री योजना

मैंने दो वर्ष पूर्व तेरहसूत्री योजना बनाई। वह जीवनके सुधार का महत्त्वपूर्ण प्रयोग था। एक वर्षके साधारण प्रचारमें करीब २५ हजार व्यक्तियोंने उसे अपनाया। मुझे अनुभव हुआ कि यदि सही पथ-दर्शन मिले, तो जनताका नैतिकस्तर बहुत शीघ्र ऊंचा उठ सकता है।

मैं देहली एक विशेष दृष्टिकोणसे आया हूं। यहां ३० अप्रैल को अणुव्रती संघका वार्षिक अधिवेशन होनेवाला है। जनताका नैतिक उत्थान करनेके लिए मैंने गत वर्ष इसकी स्थापना की यह संघ सर्वथा असाम्प्रदायिक है। इसमें प्रत्येक जाति, धर्म व

देशका व्यक्ति सम्मिलित हो सकता है। मेरे देहलीके वर्तमान कार्यक्रममें एक त्रिसूत्री योजना भी है। उसका प्रचार चालू है। मैं चाहता हूं कि पत्रकार चरित्र-निर्माणका वातावरण पैदा करने में अपना हाथ बढ़ायें।

[सम्पादक-सम्मेलन, नयाबाजार देहली में
दिनांक २१-४-१९४५]

बिदाई-संदेश

मेरा कर्त्तव्य

उपदेश मेरे जीवनका पेशा नहीं, कर्त्तव्य अवश्य है। उसे निभाता आया हूं और रहूंगा।

लगभग दो माससे आपकी राजधानीके परिसरमें रहा—आप लोगोंके बीच रहा। समय-समय पर प्रेरणाएं की—उपदेश किया। आज भी मुझे कुछ कहना है, इसलिए कहना है कि आज मैं विहार कर रहा हूं, दिल्लीसे देहातोंकी ओर जा रहा हूं। दिल्लीमें इस वर्ष आया हूं, देहातों और कस्बोंमें जीवनके इतने वर्ष बीते हैं। वहां जाना मेरे लिए कोई खास बात नहीं। मेरा यह आध्यात्मिक कार्यक्रम वर्षोंसे चालू है, पर प्रकाशमें नहीं आया और न मैं भी पहले कभी यहां आया। इसलिए यहां आने पर यकायक लोगोंके लिए वह आश्चर्यका हेतु बन गया। कोई बात नहीं; जो बननेका था, बन गया। लोगोंका आग्रह है कि मैं दिल्लीमें कुछ और रहूं। सद्भावनाकी बात है। मैं यहांसे जाता हूं; पर यहां नहीं रहूंगा, सो बात नहीं। जनतासे हुआ यह प्राथमिक सम्पर्क मुझे प्राथमिक जैसा नहीं लगता।

मानवमात्रके लिये

अच्छा तो मैं चाहता हूं कि विदाईकी इस पुण्य-वेलामें कुछ सन्देश दूं। यह सन्देश आपके लिए ही है, यह न समझें। यह होगा मानवमात्रके लिए।

सब मेरे हैं, मैं सबका हूं। मुझे सबके लिए ही कहना चाहिये। आपके बीच बोल रहा हूं, इसीलिए आप मेरे सम्बोधन के विषय हैं, दूसरा कोई कारण नहीं।

आजका जन-जीवन समस्याओंसे भरा है। कहीं चले जाओ एक ही घोष है—समय बड़ा बुरा आ गया, स्थिति गम्भीर है, मनुष्य नीतिभ्रष्ट हो गया, स्वार्थ बहुत बढ़ गया, जीना दूभर हो रहा है। वास्तवमें ही स्थिति ऐसी है, तो मैं आपसे क्या कहूं—क्या सन्देश दूं? मैं समयकी चिकित्सा करनेवाला वैद्य नहीं। मेरा रोगका निदान भी कुछ और है। रोगी मनुष्य है, समय नहीं। दूसरेके सिर दोष मढ़ना मनुष्यकी आदत बन गई। जब तक रोगकी ठीक चिकित्सा नहीं होगी, तब तक यह मिटेगा नहीं।

असली रोग

असली रोग यह है कि मनुष्यका दृष्टिकोण बहिर्मुख हो गया। जीवनका नाप-तोल उसीसे होता है। सुख और दुःखकी कल्पना बाहरी वस्तुओंके भाव और अभाव से जुड़ गई है। अमुक राष्ट्र, अमुक समाज, अमुक व्यक्ति सुखी है; क्योंकि उसके पास प्रचुर धन है, प्रचुर सामग्री है।

दृष्टि अन्तर्मुखी होती, तो तथ्य कुछ और ही निकलता। बाहरी वस्तुएं जीवनका साध्य नहीं हैं, मात्र साधन हैं। ज्वर आया, दवा पीली; ज्वर शान्त हो गया। भूख लगी; रोटी खाली; भूख शान्त हो गई। आप सोचिये, उसमें और इसमें अन्तर क्या है? धन तो और दूर का साधन है—साधन का साधन है। उसीमें जीवन उलझ गया, समस्या सुलझे कैसे?

त्याग में ही सुख

आप अपनी दृष्टि अन्तर्मुखी बनाइये, फिर आपकी दृष्टि में सुखका कारण शान्ति होगी। जिसका मन सन्तुष्ट है, सुखी वह होगा; बाहरी साधन उसे कम मिलें या पूरे मिलें। इस स्थिति में सुख-दुःखका मानदण्ड सन्तोष या असन्तोष होगा। अमुक राष्ट्र, अमुक समाज, अमुक व्यक्ति सुखी हैं, क्योंकि सन्तुष्ट है, त्यागी है।

सुख त्यागसे जन्मता है, यह सत्य आजसे हजारों वर्ष पहले सिद्ध हो चुका है। बड़े-बड़े सम्राटोंकी व्यग्र ज्वालाने सुखके लिये त्यागकी शरण ली और पापोंका प्रायश्चित किया। त्याग का आसन ऊँचा रहा, भोगका पैरोंके तले।

मैं वर्तमान समस्याओंका हल इसीमें देखता हूं कि विश्वका दृष्टिकोण बदल जाए। बहिर्मुखी छूटकर अन्तर्मुखी हो जाए। आप पूछें—इससे होगा क्या? और कुछ नहीं—आज जो सत्य

हो चलेगी। सुख-दुखका सम्बन्ध धनसे हटकर अन्तर्वृ तियोंसे जुड़ जायेगा। आज आप सत्ता और धनके चरण चूमते है और फिर ये आपकी चरण-धूलि सिर उठायेंगे।

क्या यह हो सकता है ? असम्भव नहीं, कठिनाई जरूर है। वह यह है कि वर्तमानमें सर्वोपरि सत्ता राजनैतिकोंके हाथमें है। मुट्ठीभर राजनैतिक समूचे संसारको अपने इङ्गित पर नचा रहे हैं। सम्भव है, वे इसके अन्तराय बनें। सम्भव है, त्यागके युगमें उनकी ऐसी प्रतिष्ठा न रहे।

शिक्षा में सुधार

दृष्टिकोणमें परिवर्तन लानेका उपयोगी साधन 'शिक्षाप्रणाली' है। वह भी राजनीतिकी कारासे मुक्त नहीं है। शिक्षा-पद्धति में ही त्याग और चरित्रके पाठ हों, तो समस्या क्यों बढ़े ? कोई कारण नहीं। दूसरोंको पछाड़ने की, धन टानने की, मकान बनाने की, विलासिता बढाने की; एक शब्दमें कहूं तो समस्या बढ़ानेकी शिक्षा खूब मिलती है।

आप देखिए, कहीं मनुष्य बननेकी भी शिक्षा मिलती है तो ? सुख मकान बनानेसे मिलेगा या मनुष्य बनने से ? बड़े-बड़े लोग जनताके सामने नैतिकताके गीत गाते हैं पर हृदय हीन गीतोंका अर्थ कुछ नहीं होता। मैं समझता हूं, वे नंतिकताके गीत नहीं; अपने पर कोई आंच न आए, इसके उपाय हैं। शिक्षा-अधिकारियोंसे बातचीत हुई, तो उन्होंने बताया कि धर्म और दर्शनमें

छात्रोंकी रुचि नहीं है। उनकी रुचिके विषय हैं—राजनीति, अर्थशास्त्र और विज्ञान। यह ठीक है—बहिर्मुखी दृष्टिमें यही होगा और क्या ? जब तक समाजके सूत्रधारोंकी दशा नहीं बदलेगी, तब तक दूसरोंसे उसकी आशा करना कठिन है। यह मैं ऊपर कह आया हूं, फिर भी यह बात टालने जैसी नहीं है। जनताको इसका निर्णय करना होगा—आज नहीं, तो कल सही, पर बिना काम चलनेका नहीं।

राजनीति को चुनौती

आपको ऐसी अहिंसक शक्ति का संगठन करना है, जो संसार की राजनीति को चुनौती दे सके। मैं राजनीतिके विरुद्ध दूसरा फौजी संगठन नहीं चाहता। उससे होगा भी क्या ? लड़ाई का परिणाम लड़ाई है। जरूरत यह है कि लड़ाई शान्त हो। यह कार्य अहिंसा ही कर सकती है।

तीन बातें

मैंने थोड़े शब्दोंमें आपको तीन बातें सुझाई हैं—दृष्टिकोण का परिवर्तन, शिक्षा-प्रणालीमें परिवर्तन और अहिंसक संगठन। इनसे एक बात यह भी निकलती है कि राजनीति पर अंकुश रखिये। राजनीति को ही सर्वोपरि मत समझिये। आज तृतीय युद्ध की कल्पनासे जनवर्ग आतंकित हो रहा है। यदि इस आतंक को मिटाना है, तो आप आध्यात्मिक चेतना जागृत करिये। इसके बिना समानता की भावना नहीं बनती; इसके बिना युद्ध

की वृत्ति नहीं छूटती। मुझे ऐसा लगता है कि आपने इन पर ध्यान दिया, तो स्थिति जरूर बदल जायेगी।

अणुव्रती संघ की योजना

अणुव्रती संघ की योजना इसी उद्देश्यसे आपके सामने आई है। यह कठिन है,— लोगोंने ऐसा अनुभव किया है। पर, मै यह नहीं मानता। मनुष्य कष्टसहिष्णु है। आज वह समस्याओं को बढ़ाने के लिए वैसा हो रहा है। मैं चाहता हूं कि समस्याओं को सुलझाने के लिए वह वैसा बने। इस संघ के बारे मे समाचार पत्रों मे कुछ अतिरंजित हुआ है कि इसमे लखपति-करोड़पति ही आये है या इसकी प्रतिज्ञाएं एक वर्ष के लिए ही हैं। बात ऐसी नहीं। इसमे लखपति-करोड़पति ही नहीं, सभी वर्गों के प्राय सभी प्रकारके पेशेवर व्यक्ति इसके सदस्य बने हैं। दूसरी बात —संघके सदस्य आर्जवनके लिए प्रतिज्ञाओं को आत्मसमर्पण कर चुके है। प्रतिज्ञाएं एक वर्ष के लिए सिर्फ इसलिए दिलाई गई है कि इस अन्तरकाल में संघ के बारे में विशिष्ट अनुभव प्राप्त किए जा सकें। मुझे इसका हर्ष है कि देशवासी और विदेशी लोग संघ की सफलताके लिए उत्सुक है।

सभी प्रकार के लोगों और वर्गोंका इस कार्यमे काफी सहयोग रहा। मुझे यह बताते खुशी का अनुभव हो रहा है। बहुत से यूरोपियन और अमेरिकन व्यक्ति भी सम्पर्क में आये। उन्होंने भी भौतिकताके विरुद्ध आध्यात्मिकता के विकासका संकल्प

किया है। यह अहिंसा की विजय है। इसका मुझे गौरव है। अहिंसक होने के नाते मैं इसे अपनी सफलता मानता हूं। मैं आपके क्षेत्रसे कुछ दूर भी रहूं, फिर भी मेरी भावनायें आपके साथ रहेंगी। आप संयम का प्रसार करते रहेंगे, इसी आशा के साथ।

आज के युग की समस्यायें

सुख-दुख

संसार का प्रत्येक प्राणी सुखके लिये लालायित है; किन्तु सुख बाहरी-साधनोंमें नहीं, आन्तरिक साधनों में है। बाहरी सुखके साधन तो रोग की चिकित्सा की तरह हैं, वास्तविक सुख तो अन्तस्तलमें है। क्षुधाग्रस्त प्राणी बाहरी भोजनके बाद फिर क्षुधा से पीड़ित हो जाता है। आजकल बाहरी साधनों से ही सुख प्राप्त करनेका प्रयत्न किया जाता है। वास्तवमें सुख और दुःख को समझने की आवश्यकता है। इच्छा की अपरिमितता दुःख है और इच्छाओंका निरोध सुख है। आवश्यकताओंको रोक कर हम नाना दुःखों से त्राण पा सकते हैं। जो सुख क्षणभंगुर है, वह सुख नहीं है। जिसमें दुःख न हो, वही सुख है। जैनदर्शन के अनुसार दो वस्तुओं को धारण करके व्यक्ति सुख की ओर बढ़ सकता है। वे हैं अहिंसा और अपरिग्रह। अहिंसाका प्रयोग राजनीतिमें भी हुआ और सफलताके साथ हुआ। आज अहिंसा एक विश्वव्यापी प्रश्न बन चुका है। वह चाहे जैनदर्शन की

सूक्ष्म अहिंसा न हो, फिर भी अहिंसाके तत्त्वको सभी स्थान देते हैं। अहिंसा के दो रूप हैं, मानसिक अहिंसा और कायिक अहिंसा। मानसिक अहिंसाका रूप इतना सूक्ष्म है कि किसी का बुरा सोचना भी हिंसा है। सभी प्राणियों को समान समझना हमारा लक्ष्य है। महावीर ने दो हजार वर्ष पहले स्याद्वाद का सिद्धान्त रक्खा था। हर वस्तु को एक नहीं, अनेक दृष्टियों से देखना स्याद्वाद है। यह समन्वयवाद का प्रतीक है। आज प्रत्येक वस्तु को इसी दृष्टिसे देखने की आवश्यकता है।

संसारके सब प्राणी जीवन चाहते हैं, मरण कोई नहीं चाहता। पशु, पक्षी और प्राणी सबमें चेतना है। इसीलिये प्राणिमात्र की हिंसा अन्याय है। फिर भी सर्व हिंसा का त्याग गृहस्थ नागरिकों के लिये कठिन है। तब भी आज हिंसा की मनोवृत्ति पर काबू पाना आवश्यक है।

जातिभेद की समस्या

जाति तथा वर्गका भेद और आर्थिक वैषम्य आजके युग की जटिल समस्यायें हैं। जातिभेद की समस्या न केवल भारत में, अपितु विदेशोंमें भी उग्र रूप धारण करती जा रही है। जातिभेद की समस्या को मिटाने के लिये समय समय पर प्रयास हुआ है। फिर भी आज हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ है। हिन्दू-मुस्लिम समस्या को ही लीजिये। जातिगत द्वेष के कारण ही भारत वसुन्धरा का विभाजन हुआ, रक्तपात हुआ और फिर भी वह

समस्या तो आज भी है। मनुष्यों की जाति से नहीं, आचरणों और गुणों से पूजा होने की भावनाका प्रचार होना आवश्यक है।

आज जातिवाद की तरह ही सब दलों और पार्टियोंमें भी भिन्नता आ रही है। यह विषमता विचारों की है। आज एक दलके व्यक्ति हिंसा के साधनों से देशकी समस्या को हल करना चाहते हैं और दूसरे दलके शान्ति तथा अहिंसामे विश्वास रखते हैं। इसमें मध्यम मार्ग उचित है। जबतक सब अहिंसक न बन जायें, तब तक अहिंसा का पालन होना कठिन है। अहिंसा के लिये हिंसा के प्रयोगात्मक साधन भी हिंसा को ही जन्म देते हैं। इसीलिये साधन और साध्यमें समानता होनी आवश्यक है।

हिंसा का रूप

हिंसा के तीन रूप है। आरम्भी हिंसा, विरोधी हिंसा और संकल्पी हिंसा। आरम्भी हिंसा से मनुष्य बच नहीं सकता। विरोधी हिंसा अपने बचाव के लिये की जाती है, अर्थात् किसी के आक्रमण से बचने के लिये प्रत्याक्रमण करना विरोधी हिंसा है। संकल्पी हिंसा निरपराध प्राणी पर आक्रमण करना है। कम से कम इस तीसरी हिंसा से तो बचा जा सकता है और बचना आवश्यक भी है। आज की साम्प्रदायिक समस्या का यही एक मात्र हल है कि जातीय किंवा साम्प्रदायिक भावना से किसी की हत्या न की जाय। हमे जातिवाद और साम्प्रदायिकता की इस विषमता को ही समाप्त करना है, क्योंकि इससे मानवता का पतन हुआ है।

नारी को भी यदि विकास का साधन मिले, तो वह भी बहुत कुछ कर सकती है। हमारे धार्मिक संगठनमें साधुओं की तरह साध्वियां भी समूचे देशमें पैदल विहार कर धर्म और अहिंसा का प्रचार कर रही हैं। शिक्षा, साहित्य और कलाके विकास में भी वे प्रयत्नशील हैं। उनको हीन समझना उचित नहीं है। यह एक बड़ी भूल है।

आर्थिक विषमता

आर्थिक विषमता का हल कल-कारखानों से अथवा उत्पादन बढ़ाने से नहीं होगा, जितना कि अपरिग्रह की भावना से हो सकता है। आवश्यकता से अधिक संग्रह करना पाप है। आज की इस विषमता को मिटाने के लिये नेताओं, लेखकों, पत्रकारों और वक्ताओं को जगह जगह पर अपरिग्रहवाद का प्रचार करना चाहिये और उससे पहले स्वयं अपने जीवनमें आर्थिक-क्रान्ति लानी चाहिये। पूंजीवादी मनोवृत्ति को मिटाकर संयम और सात्विकता को अपनाना चाहिये। इसी में हमारे देश और जनता का कल्याण है।

[भारतीय पार्लमेन्ट के सदस्यों में कन्स्टीट्यूशन क्लब में]

पूर्व और पश्चिम की एकता

पूर्व और पश्चिम सबके लिए धर्म आवश्यक है। यह अत्राण का त्राण है। विश्वमैत्रीका मूल हेतु है। इसके आधार पर विश्व का संगम होता है, पूर्व-पश्चिमका भेद मिटता है। आजका संसार राजनीतिसे अतिमुग्ध है। पर उससे विश्वबन्धुत्व की स्थापना नहीं हो सकती। उसका कलेवर स्वार्थमय है। स्वार्थ-साधनामें एकता नहीं पनप पाती। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावनाके बिना शान्तिके दर्शन सुलभ नहीं होते।

आजके राजनीतिज्ञोंने धर्मको अफीम बताकर जनताके रुख में परिवर्तन लादिया है। अतएव वर्तमान युग धर्मका उतना प्यासा नहीं रहा, जितना पहले था। इससे सुधार भी हुआ और भूल भी।

भोगमें त्याग और परिग्रहमें धर्मकी भावना जमी हुई थी, धर्मके नाम पर हिंसा होती थी, उससे जनता की आस्था हटी, यह श्लाघनीय सुधार है। मानव-शरीरमें दानव की आत्मा उतनी खतरनाक नहीं होती, जितनी खतरनाक धर्म की पोशाकमें अधर्म की पूजा होती है।

इसके साथ-साथ भौतिक सुख-सुविधाओं को ही जीवनका परम लक्ष्य मानकर आत्मा और धर्म की वास्तविकता को भुला बैठे, यह बड़ा भूल है।

इससे असन्तोष और हिंसक वृत्तिको प्रोत्साहन और प्रश्रय मिला। आत्मानुशासन और आत्मसुधार की पवित्र भावनाके दर्शन दुर्लभ हो गये। शुद्ध धर्म व्यक्तिगत सम्पत्ति है। वह संस्थागत या सामाजिक निधि नहीं। धर्म अशुद्ध होता ही नहीं; तब भी उसका विकृत रूपोंसे बचाव करने के लिए यह विशेषण लगाना मुझे उचित लगता है।

विश्वद्रष्टा भगवान् महावीरने अहिंसा संयम और तपस्यामय धर्मको उत्कृष्ट मंगल कहा है—

"धम्मो दीवो पइट्ठाय गई सरणमुत्तमं"—धर्म द्वीप है, प्रतिष्ठा है, गति है और उत्तम शरण है। संयममय धर्मके लिए ये सब विशेषण उपयुक्त है।

जैनधर्म विजेताओं का धर्म है। परम योद्धाओं का धर्म है। सच्चा विजेता और सच्चा सैनिक वही होता है, जो अपनी आत्मा पर विजय पाता है और अपनी आत्म-प्रवृत्तियोंसे जूझता है। भगवान् महावीरने कहा है कि—"सत्ते सत्तपरिवज्जिया उवहणंति"—प्राणियों की हत्या वही करता है जो सत्त्वहीन होता है।

मानव मानवका शत्रु नहीं होता। मानवको परास्त कर अपने को विजयी माननेवाला मूर्ख है। आत्म-विजय करो—राग और द्वेष ये दो बड़े शत्रु हैं, इन्हें जीतो, यही परम विजय है, यही धर्म

पूर्व और पश्चिम की एकता

पूर्व और पश्चिम सबके लिए धर्म आवश्यक है। वह अत्राण का त्राण है। विश्वमैत्रीका मूल हेतु है। उसके आधार पर विश्व का संगम होता है, पूर्व-पश्चिमका भेद मिटता है। आजका संसार राजनीतिसे अतिमुग्ध है। पर उससे विश्वबन्धुत्व की स्थापना नहीं हो सकती। उसका कलेवर स्वार्थमय है। स्वार्थ-साधनामें एकता नहीं पनप पाती। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावनाके बिना शान्तिके दर्शन सुलभ नहीं होते।

आजके राजनीतिज्ञोंने धर्मको अफीम बताकर जनताके रुख में परिवर्तन लादिया है। अतएव वर्तमान युग धर्मका उतना प्यासा नहीं रहा, जितना पहले था। इससे सुधार भी हुआ और भूल भी।

भोगमें त्याग और परिग्रहमें धर्मकी भावना जमी हुई थी, धर्मके नाम पर हिंसा होती थी, उससे जनता की आस्था हटी, यह श्लाघनीय सुधार है। मानव-शरीरमें दानव की आत्मा उतनी खतरनाक नहीं होती, जितनी खतरनाक धर्म की पोशाकमें अधर्म की पूजा होती है।

इसके साथ-साथ भौतिक सुख-सुविधाओं को ही जीवनका चरम लक्ष्य मानकर आत्मा और धर्म की वास्तविकता को भुला बैठे, यह वज्र भूल है।

इससे असन्तोष और हिंसक वृत्तिको प्रोत्साहन और प्रश्रय मिला। आत्मानुशासन और आत्मसुधार की पवित्र भावनाके दर्शन दुर्लभ हो गये। शुद्ध धर्म व्यक्तिगत सम्पत्ति है। वह संस्थागत या सामाजिक निधि नहीं। धर्म अशुद्ध होता ही नहीं, तब भी उसका विकृत रूपोंसे बचाव करने के लिए यह विशेषण लगाना मुझे उचित लगता है।

विश्वद्रष्टा भगवान् महावीरने अहिंसा संयम और तपस्यामय धर्मको उत्कृष्ट मंगल कहा है—

"धम्मो दीवो पइट्ठाय गई सरणमुत्तमं"—धर्म द्वीप है, प्रतिष्ठा है, गति है और उत्तम शरण है। संयममय धर्मके लिए ये सब विशेषण उपयुक्त है।

जैनधर्म विजेताओं का धर्म है। परम योद्धाओं का धर्म है। सच्चा विजेता और सच्चा सैनिक वही होता है, जो अपनी आत्मा पर विजय पाता है और अपनी आत्म-प्रवृत्तियोंसे जूझता है। भगवान् महावीरने कहा है कि—"सत्ते सत्तपरिवज्जिया उवहणंति"—प्राणियों की हत्या वही करता है जो सत्त्वहीन होता है।

मानव मानवका शत्रु नहीं होता। मानवको परास्त कर अपने को विजयी माननेवाला मूर्ख है। आत्म-विजय करो—राग और द्वेष ये दो बड़े शत्रु हैं, इन्हें जीतो, यही परम विजय है, यही धर्म

का रहस्य है।

आजकी दुनियां अशान्त है, अतृप्त है, हिंसापरायण है। इस लिए उसको ऐसे अहिंसाप्रधान एवं संयमप्रधान आत्मधर्म की आवश्यकता है। जैनधर्म का उचित प्रचार हो तो वह विश्वके लिए एक महान् निधिका काम कर सकता है, ऐसा मुझे दृढ़ विश्वास है। यह मेरा है इसीलिए मैं यह नहीं कह रहा हूं। यह विश्वके लिए हितकर है इसीलिए मैं यह बताने को कर्तव्यप्रेरित हो रहा हूं।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाच महाव्रत, स्थूल अहिंसा आदि पाच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत, ये अशान्तिसे उत्पीड़ित संसारके लिए कितने उपयोगी है, मैं क्या कहूं; जाननेवाले जानते ही हैं। जैन दर्शन की 'नयवाद' 'स्याद्वाद' आदि आदि सर्वधर्मसमन्वयात्मक विचारधाराएं सब विवादों को विलीन कर सकती है, यह भी कोई रहस्यपूर्ण वात नहीं है।

जैन-कान्फ्रेन्सका पवित्र उद्देश्य और निरवद्य प्रचार सुदूरवर्ती जनता में आत्म-विजय की भावनाका विकास करे, मेरी यह शुभ कामना है।

[लन्दनमें हुए जैन-धर्म-सम्मेलन के अवसर पर]

जीवन-विकास

विद्यार्थियों और अध्यापक गण !

आजका युग विकास-युग है। चारों ओर विकास और क्रान्तिका स्वर गूँज रहा है। विकास आवश्यक है, होना ही चाहिए। मानव-जीवनमें यदि वह न हो तो फिर दूसरा स्थान कौनसा? यह सुन्दर अवसर है। सब लोग इसका मूल्य आंकें

विकास-साधन

विकासोन्मुख मानवको विकासका साधन समझना होगा। साधन जाने बिना साध्य मिलता नहीं। विकासका साधन विद्या है। मानव वर्ग इस तथ्यको समझता आया है। मेरे शब्दों में विद्याका अर्थ शिक्षा है। केवल साक्षरताको विद्या या शिक्षा कहनेमें मुझे मूल तत्त्व नहीं मिलता। अक्षर-बोध शिक्षाका साधन है, शिक्षा नहीं। शिक्षासे गुणदोष की परख आती है। हेय-उपादेय की भावना जागृत होती है। हिताहितका भान होता है। इसीलिए उसकी वाणी-वाणीमें महिमा है। राजहंसमें क्षीर-नीरका विवेक होता है। इसीलिए कवियोंने उसकी गुण-

गाथाएँ गाई है। अधिक क्या कहूं —विवेकशक्ति को विकास का साधन कौन नहीं मानता ?

शिक्षा का उद्देश्य

शिक्षार्थी छात्रों को सबसे पहले शिक्षाका उद्देश्य समझना चाहिए। आजीविका शिक्षाका उद्देश्य नहीं है। अशिक्षित भी पेट पालता है। मानवको मानवता की भूख है। धानसे उसकी पूर्ति नहीं होती। उसके लिए शिक्षा अपेक्षित है। शास्त्रीय भाषा में शिक्षाका उद्देश्य है—आत्म-निर्माण, चरित्रनिर्माण और नैतिकता। पाश्चात्य विचारक रस्किन ने भी शिक्षाका उद्देश्य चरित्र-निर्माण बतलाया है—

"अगर* आप अपने लड़कोंको आत्म-दमन करना; क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि विकारोंको एवं बुरी प्रवृत्तियोंको सचाई से सोच विचार कर निर्धारित करना सिखला दें, तो उनके भावी जीवनके दुःखोंको कम करनेके लिए और समाजके बहुत से अपराधों को मिटानेके लिए आपने बहुत कुछ किया।"

'ज्ञान' शब्द उतना विस्तृत नहीं है, जितना कि शब्द 'शिक्षा'। हमें मनोवृत्तियों को अनुशासित करना होगा, वासनाओं का दमन करना होगा, सच्ची और अच्छी प्रवृत्तियों को जागृत करना होगा, शुद्ध धार्मिक भावना भरनी होगी और हर

* डेनियल वेबस्टर—दी न्यू डिक्सनेरी आफ थाट्स पृष्ठ ११५

स्थितिमें सच्चा बने रहने की शिक्षा देनी होगी। शिक्षामें ये सब बातें आजाती हैं।"

विकास के चार सूत्र

तत्त्व शब्दमें नहीं आचरणमें रहता है। विकासकी रटसे विकास नहीं होता। उसके अनुकूल आचरण होना चाहिए। शास्त्रोंमें विकासके चार सूत्र कहे गये हैं—

"लज्जा दया संजम बंभचेरं, कल्लाणभगिस्स विसोहि ठाणं।"

लज्जा एक विशिष्ट गुण है। इसका अर्थ भय या कायरता नहीं। यह अन्याय एवं दुराचारसे बचनेका सुन्दरतम उपायहै। सात्विक भय या अनुशासनात्मक भय सबके लिए आवश्यक है। विद्यार्थियोंके लिए तो अत्यन्त आवश्यक है। क्रूर, संयमहीन और विलासी विद्यार्थी अपना मूल लक्ष्य नहीं साध सकता। इसलिए इन चार गुणों की ओर विद्यार्थी को अधिक ध्यान देना चाहिए।

स्वर्ण-वेला

बाल-जीवन जीवन-निर्माणका पहला सोपान है। या यों कहिये कि सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सोपान है। इस कालमें शिशु-हृदय सुकुमार होता है। उस पर जैसे संस्कार डाले जाते हैं, वैसे ही अंकित हो जाते हैं। बाल-मानस कोरा कागज, कच्ची हांडी या सफेद कपड़ा है।वह इच्छानुसार लिखा जा सकता है, पकाया

जा सकता है और रंगा जा सकता है। अवस्थाका परिपाक होने पर विवशता आ जाती है। एक राजस्थानी कहावत "पाकी हांडी पर कानी कोनी चढ़ै" अक्षरशः सही है। इसलिए प्रारम्भ से ही अभिभावकों और अध्यापकोंको शिशुओंको शुभ संस्कारी बनानेकी चेष्टा करनी चाहिए।

उत्तरदायित्व

अध्यापकोंके कन्धों पर बड़ा उत्तरदायित्व है। बालकों का फूलसा कोमल जीवन उनके हाथोंसे गुजरता है और भावी जीवन उनके हाथोंसे बनता है। अपना उत्तरदायित्व निभानेके लिए उन्हें सदाचारी बनना आवश्यक है। उनके आचरणों की बालकोंके हृदय पर छाप पड़े बिना नहीं रह सकती। व्यसनी अध्यापकके छात्र व्यसनी हुए बिना नहीं रहते। अध्यापक स्वयं बीडी, सिगरेट पीयें और छात्रों को निषेध करें तो वे कब मानेंगे ? भले या बुरे आचरणोंका जितना असर होता है, उतना भली या बुरी शिक्षा का नहीं होता। इसीलिए शिक्षकों को सदाचारका पालन करना आवश्यक है। वे सावधान रहें। बुरी आदतोंके शिकार न बने।

अभिभावकोंसे

दो चार घण्टा रहते होंगे। शेष समय उनका अभिभावकों की देखरेखमें ही बीतता है। जो अभिभावक दुर्व्यसनी हैं, वे अपनी सन्तानों को न चाहते हुए भी दुर्व्यसनका पाठ पढ़ा रहे हैं। सन्तानें बिगड़ जाती हैं तब वे चिल्लाते हैं—युग को, समय को और शिक्षकों को दोष देते हैं। पर अपनी करतूतों की ओर ध्यान नहीं देते। जो अपनी सन्तानों को सुधारना चाहें, वे पहले अपने आपको सुधारें।

टेढ़ी खीर

विद्यार्थी जीवन टेढ़ी खीर है। वहां साधनाका जीवन बिताना होता है। विद्यार्थियोंके लिए कई नियम आवश्यक हैं, जिनका पालन किये बिना कोई भी व्यक्ति विद्या-अर्जन नहीं कर सकता। वे हैं—खाद्य-संयम, ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय-निग्रह और अनुशासन। जीभ पर नियन्त्रण किये बिना दमनका पाठ अधूरा रहता है। ब्रह्मचर्य और इन्द्रि-निग्रय से खाद्य-संयम पृथक् नहीं है। तो भी उसे उनसे पहले और पृथक् बताना आवश्यक है। क्योंकि वह उनका मूल मन्त्र है। अनुशासनकी कमीसे आज क्या बीत रहा है सो कौन नहीं जानता। विद्यार्थी को सात्विक वृत्तिसे रहना चाहिए। आत्मानुशासन उनका जीवन-स्तम्भ होना चाहिए। भगवद्-वाणीमें विनीत शिक्षार्थीका चित्र यों है—"विनीत शिक्षार्थी बिना बतलाये न बोले याने प्रयोजन बिना न बोले, प्रयोजनवश बोले तो असत्य न बोले, क्रोध को असफल

करे और प्रिय-अप्रिय सबको सहन करे।"

इस प्रकार जीवन बितानेवाला मितभाषी; परीक्ष्यभाषी, सत्यवादी, क्षमाशील और प्रिय-अप्रियमें समत्व रखनेवाला व्यक्ति ही अनुशासनका रहस्य समझता है और वही शिक्षा का सच्चा अधिकारी और निष्णात है।

शिक्षा के कलङ्क

उद्दण्डता, अश्रृङ्खलता, अविनय और अनुशासनहीनता ये शिक्षाके कलंक है। शिक्षा निर्दोष होती है। फिर भी शिक्षार्थी या शिक्षित कहलानेवाले व्यक्ति (सही अर्थमें शिक्षार्थी या शिक्षित नहीं) दोषी हों तो शिक्षाके सिर पर कलंकका टीका लगे बिना नहीं रहता। शिक्षार्थी त्रुटियोंसे बचे, इस दशामें शिक्षा-विरोधियों की जीभ लपलपाये तो उसका क्या किया जाए। शिक्षामें कोई दोष नहीं होता। विरोध करनेवालों का अविवेक शक्षार्थी सावधान रहें तो शिक्षा-विरोधी वर्गको शिक्षाके सिर दोष मढ़ने का मौका ही क्यों मिले।

क्या अचरज नहीं ?

एक ओर विद्याका इतना प्रसार! और दूसरी ओर इतनी अशान्ति, इतना द्वेष, इतना लोभ, इतनी हिंसा। कलह हो रहा क्या यह अचरज नहीं ? ज्यों ज्यों शिक्षार्थियों की संख्या बढ़ रही है त्यों त्यों उनमें दुराचार बढ़ रहा है। आज अगणित बालक और युवक विद्यार्थी अप्राकृतिक अब्रह्मचर्यमें पड़कर अपने

देवदुर्लभ जीवनको धूलमें मिला रहे हैं। उनके चिपके हुए गाल, अन्दर धंसी हुई निस्तेज आंखें और दयनीय दशा देखकर किसे तरस नहीं आता। बहुत सारे बच्चों को तो मानो युवकत्व आता ही नहीं है। अप्राकृतिक मैथुनके बारेमें मुझे और अधिक स्पष्ट कहते हुए संकोच हो रहा है, पर वह संकोच भी किस काम जो उद्देश्यमें बाधा पहुंचाये। मुझे विद्यार्थियों को यह समझाना है कि वे पुरुष-पुरुष-मैथुन, हस्तकर्म जैसे अनैतिक कार्योंसे बचें। अभिभावक और अध्यापक भी बच्चोंका ध्यान रक्खें। उनको बुराइयों में न फंसने दें। आज वह पुराना युग नहीं, जिस समय बड़े २ युवक भी अश्लील बातों को समझते तक नहीं थे। आज के छोटे-छोटे बच्चे बड़ों बड़ों की आंखोंमें अंजन आंजनेसे नहीं चूकते। मैं पुनः उसकी ओर संकेत करता हूं—शिक्षकों! अभिभावको! और विद्यार्थियों! चेतो, उन बुरी आदतों को निकाल फेंको जिनने मानवताका सिर झुकाया है—लज्जानत किया है।

यह क्यों ?

शिक्षाके साथ-साथ दोषमात्रा भी बढ़े, इसका हेतु क्या है? यह किनका दोष है? शिक्षाका है या शिक्षकों का? किनका कहूं? शिक्षा क्या करे और क्या शिक्षक करे, जब मूलमें ही त्रुटि है, शिक्षा-प्रणाली ही सदोष है, तब ऊपरी उपकरणों को दोष देने से क्या बनेगा? वर्तमान शिक्षाप्रणाली अपङ्ग है। उसमें आध्यात्मिकताका अभाव है। भौतिकवादी शिक्षणने विश्वका

सारा दृष्टिकोण बदल डाला। भौतिकतामे अन्तरंग सफाई नहीं, केवल बाहरी दिखावा है। अध्यात्म अन्तरकी सफाईमे विश्वास रखता है। इसीलिए अध्यात्मवादी आत्मानुशासित होता है। अतएव उसका व्यवहार सबके सामने और विजनमें एकसा होना है। वह अंधेरे मे किसीका गला नहीं घोंटता और प्रकाशमें सन्त नहीं बनता। उसकी प्रत्यक्ष और परोक्ष दृष्टिमे सन्तुलन होता है। अध्यात्मवादीसे भी भूल हो जाती है। पर वह आत्म-निरीक्षण करते ही संभल जाता है। उसमें स्व-दोषोंका स्वयं प्रायश्चित्त करने की क्षमता होती है। पुराणोंमें बन्धु-द्वयका वर्णन आता है। शिक्षाप्रवण आचार्यके समीप बारह वर्ष तक अध्ययन कर दोनों भाई अपने राजप्रसादमे आये। कर्मवश अपनी अज्ञात बहिन पर उनकी दृष्टिमे आकस्मिक विकार भर आया। मा से पूछा उस सुकुमार अर्धविकसिता कन्या के सम्बन्धमें। उत्तर मिला यह तुम्हारी सहोदरी है। कानों तक आवाज न पहुंच पाई इतनेमे दोनोके हृदय पसीज गये। आखें डबडबा आई। मन ही मन आत्म-धिक्कारकी ध्वनि प्रबल हो उठी। दोनों ने आत्मग्लानिके साथ प्रायश्चित्त किया—अपना समूचा जीवन ब्रह्मचर्य की साधनामें बिताया। यह आध्यात्मिक शिक्षा का प्रभाव था। शिक्षारूपी मुक्ताफल आध्यात्मिकताके धागेमे पिरोये जाते है, तभी वह जनमनहारी हार बन हृदयको सुअलंकृत कर सकते है। आजके अधिकारी लोग शिक्षाके साथ अध्यात्मकी कड़ी जोड़ें तो उससे व्यक्ति, देश, समाज, राष्ट्र और

संसार सबका कल्याण हो सकता है। सन्तप्त मानव सुखकी सांस ले सकता है।

सबके लिए एक

आध्यात्मिकता—धर्मभावना सबके लिए एक है। उसमें साम्प्रदायिकता की गन्ध तक नहीं। साम्प्रदायिकताका अर्थ है वैमनस्य और घृणा। धर्म घृणा और हिंसासे सर्वथा दूर है। वह विश्व-मैत्रीका अमोघ सूत्र है। इसलिए उसका आश्रय सबके लिए कल्याणकर है। धर्मपुटित शिक्षा ही सच्ची शिक्षा हो सकती है। प्राचीन ऋषि-महर्षियोंने यहां तक कहा है कि वह विद्या अविद्या है जिसमें आत्म-ज्ञान न हो। शिक्षक और शिक्षार्थी मेरे विचारों को समझें। इसी सद्भावनाके साथ मैं प्रस्तुत विषयोंको समाप्त कर रहा हूं।

[फाल्गुन शुक्ला १२, वि० सं० २००५ को गंगा गोल्डन जुबली हाई स्कूल, सरदार शहर में]

अहिंसा और विश्व-शान्ति

भारतीय दर्शन का लक्ष्य

"अप्पणा सच्च मेमेज्जा मेत्ति भूएसु कप्पए" सत्यका अन्वेषण करना और प्राणी मात्रके साथ मैत्री रखना, यह भारतीय दर्शन का मूल सूत्र रहा है। इस उदार लक्ष्यको हृदयङ्गम कर भारत के दार्शनिकों ने विश्वकी छानबीनकी और उन्होंने एक अमूल्य तत्त्व ढूंढ निकाला। अन्वेषण करना प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति का काम है। अन्वेषणके द्वारा ही मनुष्य ज्ञानसे विज्ञान तक पहुंच सकता है। विज्ञानका अर्थ है विशिष्ट ज्ञान, दूसरे शब्दों में कहें तो अन्वेषण पूर्वक ज्ञान। ज्ञान साधारण जानकारी है, उस दशामें विज्ञान उसका परिष्कृत रूप है। आजका युग भी वैज्ञानिक युग है। आधुनिक विज्ञान पश्चिमी देशोंमें पनप गया है और अधिकतर वहीं उसका बोलबाला है। विज्ञानके चमत्कार-पूर्ण आविष्कारोंकी चकाचौंधमे सारी दुनियांकी आंखें चौंधिया गई है। आजका विज्ञान चमत्कारपूर्ण है, कलापूर्ण है, पर केवल भौति तत्त्वोंके पीछे पड़ा हुआ है। आजके लोग उसकी चमक

दमकमें फंसकर भारतीय विज्ञानको उससे कम मानने लग गये हैं। यह अनुचित हुआ है। वस्तुका मूल्यांकन उसके परिणाम पर निर्भर होता है। पाश्चात्य विज्ञानके परिणाम हैं—प्रलय, विस्फोट प्रणाश, हाहाकार, और भूख। आज भूमि है, धान भी उपजता है, फिरभी जनतामें त्राहि-त्राहि मची हुई है। अगणित मिलें हैं, फिर भी तन ढांकनेको पूर्ण वस्त्र नहीं मिलते। यह समझना भयंकर भूल होगी कि भारतीय आधुनिक विज्ञानके हृदय तक नहीं पहुंच पाये थे। प्राचीन ऋषि-महर्षियोंकी ज्ञान राशियोंमें विज्ञानके रत्न बीजरूपमें जगमगा रहे हैं। उसका विलोड़न करनेवाले इससे भलीभांति परिचित हैं। जहां तक मेरा अनुमान है, पाश्चात्य वैज्ञानिकोंने भी अपने अन्वेषणोंमें उसका पूरा पूरा उपयोग किया है। भारतीय विज्ञान राशिसे उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। भारतके तत्त्ववेत्ताओंने विज्ञानके रहस्योंको सुदूर अतीतमें ही समझ लिया था। फिर भी वे आत्मदर्शी थे, इसलिए अपनी आत्म-शान्तिको अक्षुण्ण रखनेके लिए उसको शिर-मौर नहीं बनाया, कोई महत्त्व नहीं दिया। उनकी आत्मोन्मुखी दृष्टिमें विज्ञानका मौलिक-रूप निकल आया। उन्होंने अपनी सारी साधनाको बटोर कर एक छोटा-सा तत्त्व जनताके सम्मुख रक्खा। उनके दूरदर्शी शब्दोंमें वही विज्ञान है। उन्होंने कहा:—

"एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसई किंचणं।
अहिंसा समयं चेव, एयावन्तं वियाणि या॥"

ज्ञानीका अथवा यों कहिये कि ज्ञान प्राप्त करनेका सार यही

है कि किसी प्रकारकी हिंसा न की जाय। जो अहिंसा है, समता है वही विज्ञान है—इससे बढ़कर दूसरा कोई विज्ञान नही है। इस भारतीय विज्ञानके परिणाम सुन्दर हुए है और होंगे। इस भौतिक विज्ञानसे त्रस्त दुनिया आज सुख और शान्तिकी प्यासी होकर इसकी ओर टकटकी लगाये देख रही है। उस विज्ञानसे बहुत कुछ मिला पर शान्ति नहीं मिली, सुख नहीं मिला, अतएव शान्ति और सुखकी भूखी जनता इस विज्ञानको सतृष्ण आखोंसे निहारने लगी है। पाश्चात्य वैज्ञानिकोंने जो तत्त्व समझनेका था, उसकी ओर ध्यान तक नहीं दिया और जो ध्यान देनेका नहीं था, उसको करीब करीब चरम सीमा तक पहुंचानेका प्रयत्न किया। प्रसन्नताकी बात है कि अब उन्होंने भी करवट बदली है। अपने आविष्कारोंकी प्रतिक्रियाओंसे थकेमादेसे होकर कुछ आत्म-अन्वेषणकी ओर झुके हैं।

वैज्ञानिक कौन ?

भारतीय दर्शनके अनुसार वही महान् वैज्ञानिक है, जिसने अहिंसाका तत्त्व समझा है, अन्वेषण किया है और उसको अपने जीवनमे उतारा है।

अहिंसा क्या है ?

"सव्व भूएसु संजमो" प्राणीमात्रके प्रति संयम है, समता है मैत्री है, यह अहिंसा है। अहिंसा अपने परिवार, कुटुम्ब,

समाज एवं राष्ट्र तक सीमित नहीं रहती। उसकी परिधि विशाल है। उसकी गोदमें जगत्के प्राणीमात्र सुखकी सांस लेते हैं।

हिंसा-त्याग क्यों ?

हिंसाको त्यागनेका या यों कहिये कि अहिंसाको अपनानेका मुख्य उद्देश्य अपना आत्म-कल्याण है। हिंसा करनेवाला किसी दूसरेका ही अहित नहीं करता बल्कि अपनी आत्माका भी अनिष्ट करता है—अपना पतन करता है, आत्माका वैर बढ़ाता है, शत्रु खड़ा करता है। यदि मनुष्य अपने आप किसी की हिंसा न करे तो उसका कोई भी शत्रु नहीं है। दूसरा कोई कुछ बिगाड़ने वाला नहीं है। कोई भी मानव पर-उपकार एवं दूसरों को रक्षाके लिए अहिंसा नहीं अपनाता उसमें अपना स्वार्थ अन्तर्हित रहता है। अपनी आत्माको उन्नत और उज्वल बनाने के लिए अहिंसाका प्रयोग किया जाता है। उपकार और दूसरों का बचाव तो इसके साथ अपने आप हो जाता है। हिंसा-त्यागका दूसरा कारण यह भी है कि सब जीवोंको जीवनसे प्यार है, सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता, दुःख किसी को भी प्रिय नहीं इसलिए क्या अधिकार है कि कोई किसी के जीवनको लुटाये, प्राणोंका नाश करे ? इस प्रकार सोचकर भी कोई अहिंसाका उपासक बन पाता है पर यह उसकी उपासना-का गौण कारण है। मुख्य कारण तो अपनी आत्माको विशुद्धि के उच्च स्तर पर पहुंचाना ही है। हां, यह सच है कि अपने सुख-

दुखके साथ दूसरोंका सुख-दुख तौलनेसे मनमें समता आती है और क्रूर विचारोंका लोप होता है।

अहिंसाका पूर्ण रूप

जो समो सव्व भूएसु, तसेसु थावरे सु य।
तस्स सामाइय होई, ईह केवलि भासिय ॥

त्रस और स्थावर छोटे और बड़े, सूक्ष्म और स्थूल सब जीवों पर जो समता और सम्भावना रक्खी जाती है, वह अहिंसा है, सामायिक है। तत्त्वदर्शी महर्षियोंने इसका उपदेश किया है।

इसमें अहिंसाका पूर्ण लक्ष्य प्राणीमात्रके प्रति वैर न करना—संयम करना है। यह अहिंसाका अतिरंजित रूप है—केवल देखने एवं सुननेकी वस्तु है। यह व्यावहारिक नहीं है, मानव-शरीरमें उतारा नहीं जा सकता। इस प्रकारके प्रश्न किये जा सकते है। पर मैं कहता हूं, यह असम्भव नहीं है। यह मानव-जीवनके लिए है। अहिंसा मानव जीवनमें अवतरित हुई है और अब भी हो सकती है। यह आदर्श है, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर आदर्श वही होता है, जिसका आचरण किया जा सके। जो वस्तु किसी के भी व्यवहारमें न आये, वह आदर्श भी नहीं हो सकती। जिसे कोई कर ही नहीं सके, भला उससे मतलब ही क्या ? फिर वह आदर्श ही क्या ? यह सच है कि साधारण व्यक्ति पूर्ण अहिंसा का आचरण नहीं कर सकता, पर कोई भी नहीं कर सकता, यह बात मिथ्या है। जो आत्मलीन

या अन्तर्दृष्टिवाले मुमुक्षु होते हैं, उनके लिए पूर्ण अहिंसा का पालन करना संभव है। जो अहिंसा को ही जीवन मानकर जीते हैं, जीवन और मृत्यु की कुछ अपेक्षा नहीं करते, उनके लिए उसका पालन संभव क्यों नहीं होता ? जो नियमके सामने जीवन को नगण्य मानते हैं, उनके लिए असम्भव क्या है—कुछ भी नहीं।

अहिंसा का सामान्य रूप

चोटी की अहिंसा तक बिरले पहुंच पाते हैं। अतएव हिंसा को तीन भागों में विभक्त किया गया है—आरम्भजा, विरोधजा और सङ्कल्पजा। कृषी आदि जीवन की आवश्यक क्रियाओं में जो हिंसा होती है, वह आरंभजा है। किसान हिंसा के लिए यानी जीवोंको मारने के लिए खेती नहीं करता, तो भी उसमें छोटे या बड़े जीव मरते ही हैं, हिंसा होती है। रसोई करनेवाला जीवों को मारने के लिए चूल्हा नहीं जलाता, तो भी वक्त पर बड़े २ जीव स्वाहा हो जाते हैं। इनमें हिंसा करनेका उद्देश्य नहीं, नीति नहीं इसलिए यह आरम्भजा हिंसा कहलाती है। इसका त्याग सामाजिक प्राणी के लिए अति कठिन है।

आक्रमणकारी के साथ वैसा ही वर्ताव किया जाता है, वह विरोधी हिंसा है। यद्यपि यह कायरता है। हिंसा का उत्तर हिंसा से देने में कोई वीर-वृत्ति नहीं है। वीर पुरुष दूसरों के आक्रमण को हंस हंस कर सह सकता है। तथापि साधारण गृहस्थके लिए यह बहुत दुष्कर है।

तीसरी हिंसा संकल्पजा है। इसका अर्थ है हिंसा के उद्देश्य से हिंसा करना—दूसरों की सत्ता हड़पने के लिए हिंसा करना। जीवन की अनिवार्य आवश्यकता के बिना ही हिंसा करना, नृशंसता है; संकल्प पूर्वक हिंसा करने वाला मानव, मानव नहीं दानव है, पशु है। आज संकल्पी हिंसा का बोलबाला है। अतएव समूचा संसार अशांति की आहें भर रहा है। हिंसा के ये तीन रूप हिंसा की सामान्य स्थिति तक पहुंचाने में बड़े उपयोगी हैं।

अहिंसा-अणुव्रत

पूर्वाचार्यों ने संकल्पी हिंसा छुड़ाने के लिए मध्यम मार्गका उपदेश किया। तीनों प्रकार की हिंसाएँ बन्धन अवश्य हैं। संकल्पी हिंसा सामूहिक अशान्ति को जन्म देती है। इसको त्यागने का नाम अहिंसा-अणुव्रत है। इसमें आरम्भी और विरोधी हिंसा का भी यथाशक्ति परिमाण करना आवश्यक है। अन्यथा वे भी बढ़ती-बढ़ती संकल्पी के रूपमे परिणत हो जाती है। पूर्ण अहिंसा तक नहीं पहुंचने वाले व्यक्तियोंके लिए अणुव्रत एक सुन्दरतम विधान है। इससे गृहस्थ-जीवन के औचित्य-संरक्षण में भी बाधा नहीं आती और हिंसक वृत्तियां भी शांत हो जाती हैं।

अहिंसा ही सच्ची शक्ति है

अहिंसा से मनुष्य कायर बन जाता है, इस भ्रमपूर्ण धारणा को भी दूर निकाल फेंकना चाहिए। कायरता अहिंसा का अंचल

तक नहीं छू सकती। सोनेके थाल बिना भला सिंहनी का दूध और कहां रह सकता ? अहिंसा का वास वीरहृदय को छोड़ कर और कहीं नहीं होता। इसलिए पूर्व विद्वानों ने लिखा है—"क्षमा वीरस्य भूषणम्।" वैशाली के महाराज चेटके ने अहिंसा-अणुव्रत का कठोर पालन करते हुए गणतन्त्र-शासन का संचालन किया था। चेटक में भगवान महावीर के प्रति भक्ति और अहिंसा के प्रति जितनी गाढ़ श्रद्धा थी, उतनी ही अन्याय का प्रतिकार करने की भावना थी। कोणिक ने अपने भाई से हार और हाथी की अन्यायपूर्ण मांग की। तब महाराज चेटक ने उसका प्रतिकार करने के लिए बारह वर्ष तक रोमांचकारी संग्राम लड़ा। अहिंसक गृहस्थ व्यर्थ हिंसा से हिचकता है। स्वार्थ हिंसा में पाप समझता है। पर उसके विचारों में और वृत्तियों में कायरता नहीं रहती। किसी को मार डालना शूर-वीरता नहीं है। यदि ऐसा ही हो, तब तो जंगली भेड़िया, बाघ, चीता आदि हिंसक पशु सब से अधिक वीर माने जायंगे। वीर वह नहीं होता जो मारे, वीर वह है जो मर सके पर न मारे। "मार सके मारे नहीं, ताका नाम मरद" इसमें सच्ची वीरता का लक्षण बताया गया है। इस बात को एकबार और सोचो कि मारना वीरता नहीं, मरना सीखना वीरता है। अहिंसक सच्चा वीर होता है, वह स्वयं मरकर दूसरे की वृत्ति को बदल देता है – हृदय परिवर्तित कर देता है। लाखों वर्षों की नहीं, केवल ढाई हजार वर्ष पुरानी एक घटना है। उसमें अहिंसात्मक वीरता की जीवित प्रतिमा विराजमान है।

चन्दनबाला की माता महारानी धारिणी ने अपने प्राण त्याग कर उस उन्मत्त रथिक में किस प्रकार चेतना फूंकी, क्या यह आपको मालूम नहीं? रथिक ने रानी का सतीत्व भ्रष्ट करना चाहा तो रानी ने उसे बहुत कुछ कहा सुना। अन्त में उसने रानी पर बलात्कार करने की विफल चेष्टा की। रानी ने उसके देखने-देखते अपनी जीभ खींचकर प्राण-त्याग कर डाला। रथिक अवाक् रह गया। उसका पागलपन कहीं जाता रहा। मां! मा! ऐसा मत करो २ की प्रतिध्वनि से हृदय छलछला गया। लोग कहते हैं कि अबलाएँ क्या कर सकती है? मैं कहता हूं कि ये क्या नहीं कर सकतीं? स्त्री और पुरुष का कोई प्रश्न नहीं। हृदय में अहिंसा हो तो सब कुछ सहने का सामर्थ्य आ जाता है। महारानी धारिणी ने रथिक का हृदय बदल डाला—इसका नाम अहिंसा है—यह सच्ची वीरवृत्ति है।

शान्ति कैसे?

मुंह मुंह पर यह आवाज है—प्रश्न है कि शान्ति कैसे हो सकती है? विश्व शान्ति का क्या साधन है? इसका सही उत्तर कहीं पूछो, एक ही है। शान्ति का एकमात्र साधन अहिंसा है। नये नये शस्त्रों के आविष्कार एवं निर्माण से कभी शान्ति नहीं हो सकती। आज कोई अणुबम से शान्ति की बात सोचता है तो कोई आकाशीय प्लेटफार्म की स्थापना में उसकी कल्पना करता है। सचमुच ये कल्पनाएँ है। ये सब विचार-कोई आज

तो कोई कल असफल होकर रहेंगे—पानीके बुलबुलेकी तरह विलीन हो जायंगे। शान्तिके लिए आखिर अहिंसाके चरण चूमने होंगे। समूचे विश्वमें स्थायी शान्तिकी चर्चा निरी कल्पना है, यह भी हमें भूल जाना चाहिए। जबतक संसार रहेगा, तब तक विग्रह रहेगा। अभिमान और मोह, स्वार्थ और महत्त्व ये महान् दोष हैं, नरभक्षी पिशाच हैं। इनका प्रतिकार करना सबके लिए असंभव है। और ऐसा हुए बिना विश्वशान्तिकी बात कोरी कल्पना ही रह जाती है। हमें उस महामंत्रको भी नहीं भूल जाना चाहिए कि जितनी शान्ति होगी, उसका यही—अहिंसा ही सबसे अच्छा और निर्विकल्प साधन है। इसके बिना बुराई नहीं मिटती। हिंसासे प्रतिहिंसा और शोधसे प्रतिशोधकी भावना बढ़ती है। द्वन्दको निर्द्वन्द एवं विषको अमृत बनानेवाला तत्त्व कोई है, तो वह अहिंसा यानी समता ही है।

अहिंसा का परिणाम

सद्भावना, मैत्री, निष्कपटवृत्ति, हृदय-स्वच्छता—ये सब अहिंसादेवी के अमर वरदान हैं। अहिंसक अपने अधिकारोंमें सन्तुष्ट रहता है। वह दूसरोंको सत्ताको निगलना नहीं चाहता। उसकी नीति आक्रमणात्मक नहीं होती। पर इसका अर्थ यह नहीं कि वह अपना बचाव ही नहीं करता। दूसरेकी सम्पत्ति, ऐश्वर्य और सत्ताको देखकर मुंहमें पानी नहीं भर

आता, यह अहिंसाका ही प्रभाव है। इसका सबसे ताजा उदाहरण भारतकी वर्तमान राष्ट्रीय नीति है।

राष्ट्रीय नेताओंने अपनी नीतिका स्पष्टीकरण करते हुए अनेक बार कहा है कि हमारी नीति आक्रमणात्मक नहीं है। हम किसीको हड़पना नहीं चाहते। केवल अपनी रक्षा चाहते हैं। इन घोषणाओं का विदेशोंमें बड़ा स्वागत किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत्‌में भारतकी सचाईकी छाप जम गई है।

भारतमें अहिंसाका सदासे महत्त्व रहा है। भारतीयोंको सदासे अहिंसाकी घूंटी मिली है। अहिंसा भारतकी उपज है। जैनोंका तो यह सबसे बड़ा मन्त्र है। इसका पालन करने वाला दूसरों पर आक्रमण न करे, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। महाराजा चेटकने जो हिंसा का संवरण किया, वह एक विस्मय करनेवाली प्रतिज्ञा थी। रणभूमिमें जाकर भी प्रहारकी पहल न करना और एकबारसे अधिक प्रहार न करना, यह अहिंसा का ही प्रभाव था। कुछ पहले जब भारत परतन्त्र था, तब भी अहिंसाके लिए वह संसारका गुरु माना जाता था। आज वह स्वतन्त्र है। इस दशामें वहां अहिंसाका व्यापक प्रचार हो तो कोई विशेष बात नहीं।

अनूठी सूझ

अहिंसाके उपदेशों की भरमार है, फिर भी हिंसा तो नहीं मिटी और न मिटनेकी है, तब फिर अहिंसासे क्या लाभ हुआ?

इसके लिए इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि अहिंसा-पथ कठोर है। इसमें न कोई प्रलोभन है और न कोई स्वार्थ सधता है। हिंसाका मूलोच्छेद कभी संभव नहीं, यह मैं पहले ही बता चुका हूं। तो भी अहिंसाके उद्देश्यसे हम मुख नहीं मोड़ सकते। जनतामें सद्भावका मन्त्र फूंकनेके लिए अहिंसाकी शिक्षा नितान्त आवश्यक है। अन्यथा मानवमें मिलनेवाली मानवता और चल बसे। अहिंसा मानवको पशु बननेसे रोके हुए है। सब अहिंसक नहीं बन पाते, फिर भी कुछ न कुछ चेतना आती ही है। अहिंसा हिंसा पर अंकुश है। यदि यह न रहे तो "जो मारे वही वीर" इस पशुवृत्तिका सूत्रपात होनेमें कुछ देर न लगे। इसलिए यदि पूरी हिंसा न मिटे तो भी हिंसा पर नियन्त्रण रखने के लिए अहिंसा का प्रचार पूर्ण उपयोगी है।

उपसंहार

फिर मैं एकबार इसी बातका स्मरण करा दूं। कि हमारा अहिंसा का आदर्श "आय तुले पयासु" प्राणीमात्र को आत्मतुल्य समझो, यही है। इसी में अहिंसा की पूर्णता है। इसके गम्भीर उदर से विश्वमैत्री और विश्वबन्धुत्व का श्रोत निकला है। यह शांतिका मूल बीज है। इससे दुनियांमें शांति होती है, आत्मा में शांति होती है। शान्ति सन्तोषमें है, लालसामें नहीं। लालसाके चंगुलमें फंसे हुए व्यक्तियोंने भूमिका अधिकार पाया, धनका संग्रह किया, नई भोग्य वस्तुएं सुलभ की, फिर भी

उन्हें सुख नहीं मिला, शान्ति नहीं मिली। जड़-विज्ञानमें शांति और सुखके संकेत मिल भी नहीं सकते। जिन्हें इनकी अभिलाषा है, उन्हें हिंसा त्यागनी होगी। अधिक नहीं बने तो कमसे कम संकल्पी हिंसा तो अवश्य त्याग देनी होगी। इसका प्रयोग कर देखें, इससे निश्चित अवर्णनीय सुख और शांति मिलेगी। भारतीय विज्ञान और पश्चिमी विज्ञान दूसरे शब्दों में आध्यात्मिक विज्ञान और जड़-विज्ञान का अन्तर हृदयङ्गम होगा। फिर जनता की वाणी वाणी मे, शब्द-शब्द में गूंज उठेगा कि अहिंसा ही विज्ञान है।

[लाडनूं (राजस्थान) ता० १७ दिसम्बर १९४८]

धर्म की सामान्य भूमिका

धर्म मेरे जीवनका सर्वोपरि प्रश्न है। धर्मोपदेष्टा आचार्य हूं, इसलिए नहीं, किन्तु आत्म-शोधक हूं इसलिए। धर्मके सम्बन्धमें मेरे विचार क्या हैं? मैं किस धर्मका उपासक हूं? मैं इसे स्पष्ट करूँ, बहुतसे व्यक्तियोंकी ऐसी जिज्ञासा है। इसे समाहित करूँ, ऐसी मेरी भी इच्छा है पुराने आचार्योंने वस्तु-स्वभावको धर्म कहा है। मेरे शब्दों में यहां धर्म का अर्थ है—आत्म-धर्म। आत्मा के स्वभावको धर्म माने या न मानें, क्या विशेषता होगी। जिस साधनसे आवरणयुक्त आत्म-स्वभाव निरावरण बने, वह धर्म है। दूसरे शब्दोंमें उसका नाम है—अहिंसा।

मैं अहिंसा-धर्मी हूं। जैन-संस्थाविशेष का प्रतिनिधि का हूं। प्रत्येक साधक के लिए एक परंपरा का अवलम्बन आवश्यक होता है। किसका ले, इसमें प्रमाण है, व्यक्ति की इच्छा। किसी का भी ले। आखिर सबको एक मार्ग पर आना है। अहिंसा के सिवाय साधक की कोई दिशा नहीं। हमारी गति बहुमुखी है। कोई जैन होकर चलता है, कोई वैदिक, कोई बौद्ध और कोई दूसरा दूसरा, पर क्या कोई भी अहिंसा पर कटाक्ष कर सकता है? हां, तो वह क्या साधक? नहीं तो विरोध क्या?

मूलमें विरोध नहीं होता। उसका भारवहन करती है शाखाएँ और प्रतिशाखाएँ। हमारी दुनियामें दो भूमिकाएँ हैं—एक आत्म-शोधक की, दूसरी स्वार्थी मानव की। पहला कीचडसे ऊपर रहनेवाला कमल है, दूसरा उसमें फंसा हुआ हाथी। स्वार्थी मनुष्य बिल्ली से चूहे को बचाने के लिए दयालु बन जाता है और मनुष्यके गले पर छूरा भोंकते समय कुछ सोचता ही नहीं। दया का अर्थ क्या चूहेको बचाना ही है? करोड़ों मनुष्य मांस खाते है। बिल्लीको डांट कर चूहे की दया करनेवाले मांसाहारी, मनुष्य कोडरा-धमका कर करोड़ों निरीह मूक बिलखते हुए पशुओं की दया क्यों नहीं पालते? मनुष्य समझदार और समर्थ प्राणी है, उसे डराने की क्या आवश्यकता और वह धमकीसे कब डरनेवाला? तब तो यही हुआ, समझदार और शक्तिशाली चाहे सो करे। वह क्षम्य है। उसका दोष अक्षम्य होता है, जो नासमझ और कमजोर है। क्या इसी आशयसे सन्त तुलसीदासजीने कहा है—

'समरथको नहो दोष गुसाईं।'

धर्म-मर्यादामें यह पक्षपात नहीं। समझदार या नासमझ, समर्थ या कमजोर चाहे जैसा हो, हिंसा करने पर उसे उसका दायी होना ही होगा। हमारी अहिंसा हमें यह नहीं सिखाती कि बिल्ली नासमझ है, कमजोर है, इसलिए उसे डराएँ, धमकाएँ, बलपूर्वक उससे दया का पालन करवायें। गृहस्थ ऐसा करे या नहीं, बिल्ली से चूहे को छुड़ाए या नहीं,—इस विषयमें हा या

में भी ऐसी भावना फैलाएं।

बचाना और न मारना ये दो दृष्टियां हैं। न मारना यह सर्वथा निर्दोष और व्यापक है। बचाना यह अपने आपमें संदिग्ध है। 'बचाओ' यह कहते ही प्रश्न होगा किसे और कैसे? मरनेसे बचाना अहिंसा है या हिंसक हिंसा छोड़े यह अहिंसा है। डराकर या प्रलोभन देकर मरते जीवको बचाना अहिंसा है या उपदेश द्वारा हिंसकका हृदय बदल देना अहिंसा है? मैं पाठकों पर ही छोड़ता हू, वे स्वयं सोचें।

संक्षेप मे 'मत मारो', यह अहिंसाका निर्द्वन्द्व सिद्धान्त है। 'मत बचाओ'—यह अहिंसा किसी भी हालतमे कह नहीं सकती 'बचाओ'—यह सविकल्प है, प्राणीको मौतसे बचाओ, यह अहिंसाका मुख्य विषय नहीं, वह दूसरा विकल्प स्वीकार करती है, प्राणीमात्र को दुष्प्रवृत्तिसे बचाओ।

समाज-नीति स्वार्थ-प्रधान है। वह इससे विपरीत चलती है। उसमें मुख्य प्रश्न धर्म-अधर्मका नहीं, मनुष्योंकी भलाई का है। भलाई का अर्थ है स्वार्थ, मधुर शब्दोंमे कहूं तो जीवन की आवश्यकता। समाजनीतिमें आवश्यकतानुसार मारना और बचाना दोनों स्वर चलते है। बड़ा प्राणी हो, सामाजिक जीवनमें बाधक न हो, उसे मारना दण्डनीय है। स्वार्थोंमें थोड़ी सी चोट लगी और दण्डके स्थान पर पुरस्कार की घोषणा हो जाती है। थोड़े समय पहले ही मार्च १९५० में पंजाबमे १२६२७ बन्दर और ११६ गीदड़ मार डाले गये। इसीलिए अहिंसा-धर्म

और समाज-नीति को सर्वथा एक नहीं माना जा सकता। अहिंसा की मर्यादामें किसी के लिए किसी का भी वध नहीं किया जा सकता। उसकी दृष्टिमें बड़े और छोटे, ज्ञानी और अज्ञानी, जंगम और स्थावर-सब प्राणी हैं। प्रत्येक प्राणी प्राणीमात्र के प्रति अहिंसक रहे, यही धर्म की सामान्य भूमिका है।

[सहजो-मण्डी-दिल्ली, ज्येष्ठ, २००७]

अहिंसा क्या है ?

अहिंसा क्या है ? जो हिंसा नहीं वही है या और कुछ भी ? मत करो यही अहिंसा है या कुछ करो यह भी ? मत मारो यही अहिंसा है या बचाओ यह भी ? प्रश्न थोड़ेमे है, उत्तर कुछ अधिकमें होगा। स्वाभाविक भी है। हिंसा नहीं वहीं अहिंसा है, यह निश्चित व्याप्ति है। इसमें और विकल्प होनेका अवकाश ही नहीं। हिंसासे मेरा अभिप्राय केवल प्राण-वियोजनसे नहीं, किन्तु दुष्प्रवृत्ति या दुष्प्रवृत्तिपूर्वक प्राण-वियोजनसे है। जितनी बुरी प्रवृत्ति है; राग, द्वेष और स्वार्थमयी प्रवृत्ति है, वह सब हिंसा है। वह सूक्ष्म हो या स्थूल- वार्य हो या अनिवार्य, आवश्यक हो या अनावश्यक, समाज, राजदण्ड और अर्थनीतिसे सम्मत हो या असम्मत, आखिर हिंसा है। धर्म-मर्यादामें हिंसा अनुमोदित है ही नहीं। समाज-शास्त्रमे हिंसाके भी दो रूप बन जाते है—नैतिक और अनैतिक। आवश्यक हिंसा, जो समाजमें व्यापक होती है या अपरिहार्य होती है, उसे नैतिक रूप दिया है समाज शास्त्रियोंने। अनैतिक हिंसा तो साफ बुराई है, वह समाज को विश्रृङ्खल करती है, इसलिए उसके बारेमें विशेष कहने

की बात नहीं रहती। कहनेके लिए स्थान है समाज द्वारा स्वीकृत, नैतिक हिंसा के विषयमें। गहराईमें उतरें तो हिंसा नैतिक हो ही नहीं सकती। और यह भी सच है कि जीवन चलानेमें न्यूनाधिक-मात्रामें हिंसा होती ही है। हिंसा जीवनका नियम नहीं फिर भी अहिंसाकी चरम कोटितक पहुंचे बिना जिस तिस रूपमें होती ही है। जीवनका लक्ष्य यह होना चाहिए कि हिंसा कमसे कम होती चली जाए,—आगे जाकर मिट जाए। जीवन चलानेके लिए आवश्यक हिंसा होती है, उसे भगवान् महावीरने आरम्भजा हिंसा कहा है। यह एक प्रकारसे अपरिहार्य है। फिर भी है हिंसा ही। अपरिहार्य होनेके कारण हिंसा अहिंसा नहीं बनती। अहिंसाका पालन करना दूसरी भूमिका है। इससे पहली भूमिका है हिंसाको हिंसा और अहिंसाको अहिंसा समझना। "आवश्यक परिस्थितिमें की गई हिंसा अहिंसा बनजाती है, यदि यह न हो तो देश, धर्म और संस्कृति की रक्षा कैसी की जाए ? विपत्तिकालमें की गई हिंसा धर्म है, यह धर्म-शास्त्रों का विधान है।" यह भ्रान्ति जनसाधारणके मस्तिष्कमें घर किये हुए है। इस विषयमें बहुत कुछ सोचने समझने जैसा है। पहले तो आवश्यक परिस्थिति बिना हिंसा करनेवाला ढूँढने पर भी न मिलेगा। स्वभावकी दुर्बलता या और कुछ भी माना जाए, मनुष्य नकारेके बयान देनेमें कुशल होता है। अपना दोष दूसरेके सिर मंढ़नेकी आदत होती है। चोर अपनी चोरीको परिस्थितिकी सिखाना कहकर स्वयं दोष मुक्त होना कब नहीं चाहता ?

"समाजकी दुर्व्यवस्था है, एक करोड़पति सुखसे जीता है, एकको पेट भर रोटी नहीं मिलती। समाजको चाहिए कि ठीक व्यवस्था करे, यदि न करे तो उस स्थितिमें चोरी करना क्या दोष है।" इसी तर्क पर कम्यूनिस्ट हिंसा, लूटपाट और हिंसात्मक कार्यवाहियां करते है। मनुस्मृतिमें भी कहा है "नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन" अर्थात् आततायीको मार डालनेमें मारनेवालेको कुछ भी दोष नही होता। यह समाज-शास्त्रकी दण्डविधिका समर्थन है सभी समयकी सब देशोंकी दण्डविधि द्वारा आततायी की हिंसाका समर्थन किया गया है। किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि दण्डविधिका मूल उद्देश्य समाजकी रक्षा करना है, धर्मका उपदेश देना नहीं। इसलिए आततायीकी हिंसाका विधान करनेवाला शास्त्र या शास्त्रका निर्दिष्ट अंश समाज-शास्त्र हो सकता है, धर्म-शास्त्र नहीं। धर्म-शास्त्र किसी भी परिस्थितिमें हिंसाका विधान नहीं कर सकता। हिंसा और अहिंसाकी भेद-रेखा परिस्थिति रहे, तब तो अहिंसा बच्चोंका खिलौना होगा। थोड़ी विपत्ति आई और हिंसकोंकी खूब बनी। साम्प्रदायिक कलहको इससे प्रोत्साहन नहीं मिलता क्या? मुसलमान हिन्दूको काफिर कहे, वह अप्रिय लगता है पर क्यों लगे? उनकी नीति शायद यह हो कि इससे उनके धर्म पर प्रहार करनेवालोंके प्रति घृणा बढ़ती है और ऐसा होनेसे उनका धर्म अधिक सुरक्षित रहता है। हम यदि आक्रान्ताको मारनेमें अहिंसा-धर्म बताएं, क्या यह कुछ भी अखरने जैसा नहीं है? इसे दण्डविधि कहें

यहां तक उचित—क्षम्य हो सकता है किन्तु विपत्तिकालकी ओटमें हिंसाको अहिंसा कहना प्रत्येक अहिंसकके लिए अस्वीकार्य है। अहिंसक साधनोंसे रक्षा करना बहुत कठिन है, संभव है उस क्रममें भौतिक लाभसे कुछ हाथ भी धोना पड़े, इतनी क्षमता नहीं इसलिए समाज-शास्त्रने दण्डविधि अपनाई। ईंटका जवाब पत्थर से देना उसका विधान है। इसलिए यह विधिसे अहिंसा नहीं, विरोधी हिंसा यानी आक्रान्ताके प्रति होनेवाली हिंसा है। ऐसे व्यक्ति भी कम नहीं जो निरुद्देश्य हिंसा करते हैं। जीवनकी और मानसकी विभिन्न भूमिकाओंको समझनेके लिए किये गये हिंसाके ये कई प्रकार हैं। इनके द्वारा "हिंसा नहीं, वही अहिंसा है" इस व्याप्तिका समर्थन होता है।

अहिंसा निषेधक ही नहीं, विधायक भी है। 'मत करो' यही अहिंसाका सिद्धान्त नहीं, अहिंसाका सिद्धान्त है—असत् कार्य मत करो—राग-द्वेष, मोह-स्वार्थमय प्रवृत्ति मत करो। 'सत्प्रवृत्ति करो' यह अहिंसाका दूसरा पहलू उतना ही बलवान् है, जितना कि पहला। 'कुछ भी मत करो', यह अहिंसाका सिद्धान्त है सही किन्तु साधनाकी चरमकोटिका है। साधनाके आरम्भमें यह दशा प्राप्त नहीं होती।

खाना हिंसा है, वही संयम जीवनमें अहिंसा है। हिंसा अहिंसा खाद्य पदार्थमें नहीं, वह रहती है खाद्य पदार्थसे जुड़ी हुई भोक्ता की वृत्तिमें—जीवन भूमिकामें। बहुतसे प्रसंगोंमें ऐसी सूक्ष्म हिंसा होती है, जिसके समझनेमें भी कठिनाई पड़ती है। हिंसा किसी भी रूपमें हो, वह मनुष्यकी दुर्बलता है। साधकका लक्ष्य होता है सब प्रकारसे सब प्रकारकी हिंसाओंको छोड़ना। प्रश्न हो सकता है—सब साधक हो गये तो दुनियांका क्या होगा—संसार कैसे चलेगा, क्योंकि हिंसाके बिना वह चलता नहीं। प्रश्न प्रश्नके लिए है, इसके विषयमें अधिक कहना जरूरी नहीं, इतना ही पर्याप्त होगा कि सब साधक बनते ही नहीं, यदि बन जाय तो बहुत अच्छा, फिर संसार चलानेका मोह क्यों और किसे? साधक दशामें तो यह मोह होता नहीं। दूसरी बात दुनियामें हिंसा होती जरूर है, पर वह उस पर टिकी हुई नहीं है। यदि यह हो तो वह आज खत्म हो जाय। दुनियासे अहिंसा मिट जाय। हिंसा ही हिंसा रहे तो वह एक क्षण भी आगे नहीं चल सकती। सुन्द-उपसुन्दकी तरह सब आपसमें जूझकर पूरे हो जायं। अहिंसाकी अन्तरंग प्रेरणा ही विश्वका मूल आधार है। यह बात हुई सामान्य हिंसा और सामान्य अहिंसा की। चर्चा अधिक विशेषकी होती है। हिंसा मत करो, यह उपदेश वाक्य है। इसका अर्थ होता है—किसीको मत मारो, मत सताओ, दास मत बनाओ, अधिकार मत कुचलो। आप पूछें कि 'किसी को मत मारो' यह उपदेश करना कैसे ठीक होगा? हम गृहस्थ

है। हमें तो रोटीके लिए भी अग्नि, हवा, वनस्पति, जल आदि के जीवोंकी हिंसा करनी पड़ती है, अन्यथा कोई चारा नहीं। देशकी रक्षाके लिए शत्रुसे लड़ना पड़ता है अन्यथा हम अपना अस्तित्व नहीं रख सकते। उत्तर यही है कि आप सांसारिक हैं इसलिये संसारकी बात सोचते हैं। हिंसाको आप भी अच्छी नहीं समझते; फिर भी कमजोरी मानकर करते चले जाते हैं। यदि कमजोरी मिट जाय तो आप शत्रुके साथ भी लड़नेकी बात नही सोच सकते। यहां तक कि आपकी दृष्टिमें कोई शत्रु ही नहीं रहता। अहिंसक अपनी मर्यादाकी बात कहता है। वह आपको अहिंसा पालनके लिए ही कहेगा। आप चाहे मानें या न मानें। न मानने जैसी बात तो अहिंसक करे ही कैसे? व्यवहारकी भी सर्वथा उपेक्षा नहीं हो सकती। असम्भव बात कहनेसे तात्पर्य ही क्या, जिससे कोई तात्पर्य न सधे। जीवन व्यवहारमें हिंसाके अनेक प्रसंग हैं किन्तु 'उन्हें छोड़ दो' यह सबके साथ नहीं जुड़ता। 'लड़ना झगड़ना छोड़ दो', यह ठीक है। 'खाना पीना छोड़ दो' यह एक निश्चित-परिधिमें ही ठीक हो सकता है, तपस्या उपवासकी दशामें ही यह ठीक हो सकता है। 'समूचे संसारको सदाके लिए दुराचार और बुराइयां छोड़ देनी चाहिए', यह उपदेश नहीं अखरता। कोई यह कहे कि 'समूचे संसारको सदाके लिए खाना-पीना छोड़ देना चाहिए', यह अखरे बिना नहीं रहता। अहिंसकका उपदेश साधककी योग्यताके अनुसार ही होता है। असम्भव बातके लिए कहना,

खाना हिंसा है, वही संयम जीवनमें अहिंसा है। हिंसा अहिंसा खाद्य पदार्थमें नहीं, वह रहती है खाद्य पदार्थसे जुड़ी हुई भोक्ता की वृत्तिमे—जीवन भूमिकामें। बहुतसे प्रसंगोंमे ऐसी सूक्ष्म हिंसा होती है, जिसके समझनेमे भी कठिनाई पड़ती है। हिंसा किसी भी रूपमे हो, वह मनुष्यकी दुर्बलता है। साधकका लक्ष्य होता है सब प्रकारसे सब प्रकारकी हिंसाओंको छोड़ना। प्रश्न हो सकता है—सब साधक हो गये तो दुनियाका क्या होगा—संसार कैसे चलेगा, क्योंकि हिंसाके बिना वह चलता नहीं। प्रश्न प्रश्नके लिए है, इसके विषयमे अधिक कहना जरूरी नहीं, इतना ही पर्याप्त होगा कि सब साधक बनते ही नहीं, यदि बन जाय तो बहुत अच्छा, फिर संसार चलानेका मोह क्यों और किसे ? साधक दशामे तो यह मोह होता नहीं। दूसरी बात दुनियामें हिंसा होती जरूर है पर वह उस पर टिकी हुई नहीं है। यदि यह हो तो वह आज खत्म हो जाय। दुनियासे अहिंसा मिट जाय। हिंसा ही हिंसा रहे तो वह एक क्षण भी आगे नहीं चल सकती। सुन्द-उपसुन्दकी तरह सब आपसमे जूझकर पूरे हो जायं। अहिंसाकी अन्तरंग प्रेरणा ही विश्वका मूल आधार है। यह बात हुई सामान्य हिंसा और सामान्य अहिंसा की। चर्चा अधिक विशेषकी होती है। हिंसा मत करो, यह उपदेश वाक्य है। इसका अर्थ होता है—किसीको मत मारो, मत सताओ, दास मत बनाओ, अधिकार मत कुचलो। आप पूछें कि 'किसी को मत मारो' यह उपदेश करना कैसे ठीक होगा ? हम गृहस्थ

कहनेके सिवाय कोई अर्थ नहीं रखता। अहिंसक यही चाहेगा कि संसारमें हिंसा नामकी वस्तु ही न रहे पर क्या वह हिंसाको मिटानेके लिए हिंसाका सहारा ले? क्या असम्भव बातें कहकर अपना समय निकम्मा गमाये? जो बात अपने खाने-पीनेके सम्बन्धमें कही गई है, वही बात दूसरोंको खिलाने-पिलानेके सम्बन्धमें है। जैसे जीनेके लिए खाना पड़ता है, वैसे समाजमें जीनेके लिए खिलाना भी। यही समाज-बन्धनका मूल है। अथवा यों कहिये कि इसीमें उसका उपयोग है। गायका आपके लिए उपयोग है तो वह आपका उपयोग लेगी। दूध आर्थिक और शारीरिक सेवाओंमेंसे निकलता है। ऐसे और भी अगणित पारस्परिक सम्बन्ध हैं। सम्बन्धसे सम्बन्ध चलता है।

अहिंसाका बीज वीतरागता है। उसके विधि और निषेध ये दोनों रूप हैं। 'मत मारो या बचाओ' यह मननीय विषय है। हिंसा मारनेवालेकी वृत्तियोंमें है या मरनेवालेके प्राणोंमें? प्राण चले गये, यह हिंसा है या मारनेवालेकी बुरी प्रवृत्ति? प्राणोंके चले जाने मात्रको जो वास्तविक हिंसा मानते हैं, वे उनके बचजाने मात्रको भी वास्तविक अहिंसा मान सकते हैं। किन्तु जो व्यक्ति हिंसककी वृत्तियोंके बिगाड़ और सुधारको ही वास्तविक हिंसा या अहिंसा मानते हैं, उनकी अन्तर्मुखी दृष्टिमें प्राणोंकी प्रमुखता नहीं रहती। प्राणोंका मोह भी तो आखिर मोह है। विशुद्ध अहिंसाकी भूमिका सर्वथा निर्मोह है। आप जानते ही है कि आध्यात्मिक दृष्टिका निर्णय व्यावहारिक दृष्टिके सर्वथा अनुकूल नहीं

होता। इसीलिए बहुतसे बहिर्मुखी दृष्टिवाले व्यक्ति इस सिद्धांत को तोड़ मरोड़कर जनताके सामने रखते हैं। इस पर यह आरोप भी लगाया जाता है कि ये जीवोंको बचानेका निषेध करते हैं। यह सर्वथा मिथ्या है। कोई किसे बचा रहा है, उसे दूसरा कोई मना करे, उसको हम हिंसक मानते हैं। किसीकी सुख-सुविधाओं में अन्तराय करना अहिंसा धर्मके प्रतिकूल है। धर्म बल प्रयोग से नहीं पनपता उसके लिए हृदय-शुद्धिकी आवश्यकता है। विशुद्ध अहिंसा है—दुष्प्रवृत्तिसे बचना और बचाना। बचना या न बचना व्यक्तियोंकी इच्छा पर निर्भर है। हमें सिर्फ सम-झानेका अधिकार है ताड़नेका नहीं। मुझे आशा है लोग सिद्धान्त की गहराई तक पहुंचेंगे।

भारतीय संस्कृतिकी एक विशालधारा

संस्कृति एक प्रवाह है। वह चलता रहे तबतक ठीक है। गति रुकनेका अर्थ है उसकी मृत्यु, फिर दुर्गन्धके अतिरिक्त और कुछ मिलनेका नहीं। प्रवाहमें अनेक तत्त्व घुलमिल होते है, एक रस हो बहते चले जाते है। भारतीय संस्कृतिकी यही आत्म-कथा है। वह अनेक धाराओंमें प्रवाहित हुई है। कितने ही धर्म और दर्शन प्रसंगोंसे अनुप्राणित भारतका सांस्कृतिक जीवन अपने आपमें अखण्ड बना हुआ है। किसीकी क्या देन है, इसका निर्वाचन आज सुलभ नहीं, फिर भी सूक्ष्म दृष्टया हम कुछ एक तथ्योंको न पकड़ सकें, ऐसी बात नहीं। संयममूलक जैन-विचार-धाराका भारतीय जीवन पर स्पष्ट प्रतिबिम्ब पड़ा है। व्यावहारिक जीवन वैदिक विचारधारासे प्रभावित है तो अन्तरङ्ग जीवन जैन-विचारोंसे। शताब्दियों पूर्व रचे गये एक श्लोकसे इसकी पुष्टि होती है—

"वैदिका व्यवहर्तव्य कर्तव्य पुनरार्हत"

जैन-विचारोंका उत्स ज्ञान और क्रियाका संगम है। जानने और करनेमे किसी एककी ही उपेक्षा या अपेक्षा नही। ज्ञानका

क्षेत्र खुला है। कर्मका सूत्र यह नहीं कि सब कुछ करो। साधना-श्रेम है तो पूर्ण संयम करो। गृहस्थीमें रहना है तो सीमा करो। इच्छाके दास मत बनो, आवश्यकताओंके पीछे मत पड़ो। आवश्यकताओंको कम करो, वृत्तियोंको सीमित करो—एक शब्दमें आवश्यकता पूर्तिके लिए भी सब कुछ मत करो। भारतीय जीवन पर यह जैन-विचारोंकी अमिट छाप है। हिंसाके बिना जीवन नहीं चलता फिर भी यथासंभव हिंसासे बचना, जीवनके दैनिक व्यवहार खान-पानसे लेकर बड़ेसे बड़े कार्य तक हिंसा अहिंसाका विवेक रखना भारतीय संस्कृतिका एक महान् पहलू है, जो जैन-प्रणालीका अभारी है। परिग्रह भी गृहस्थ-जीवनका एक आवश्यक अंग बना हुआ है। फिर भी चर्चा अपरिग्रहकी चलती है। भगवान् महावीरने परिग्रह पर जो प्रहार किया वह आज भी उनकी वाणीमें व्यक्त है। उनके जीवनकाल एवं उत्तरवर्ती कालमें उनकी अहिंसा और अपरिग्रह सम्बन्धी विचारधारा भारतीय संस्कारोंमें इतनी घुलमिल हो गई कि अब उसके मूल स्रोत तक पहुंचनेमें कठिनाईका अनुभव होता है। सामन्तशाही और इच्छाशासित युगमें दी हुई भगवान् महावीरकी अमूल्यनिधि आजके जनतन्त्र-युगमें और अधिक मूल्यवान् बनगई। एकतन्त्रमें एक या कुछ एक व्यक्तियों पर नियन्त्रणकी आवश्यकता रहती है तो जनतन्त्र में सब व्यक्तियों पर। एकके शासनमें एकके लिए जो आवश्यक है, वह जनताके शासनमें सबके लिए। एकके शासनमें फिर भी डंडेका शासन चल सकता है, किन्तु जनताके शासनमें उसके

लिए कोई स्थान नहीं। ऐसी स्थितिमे जनताको और अधिक सुसंस्कृत होनेकी आवश्यकता होती है। भारत अपनी शासन-प्रणालीको जनतान्त्रिक घोषित कर चुका है। इससे जनताके कन्धों पर महान् उत्तरदायित्व आ गया, चाहे वह इसे अनुभव करे या न करे। आखिर एक दिन इसका अनुभव करना ही होगा, अन्यथा जनतन्त्र टिकेगा कैसे। अब प्रश्न यह है कि भारतके भावी सांस्कृतिक विकासमे जैन क्या योग दे सकते हैं। पूर्वजोंकी कृतियोंका गौरवमात्र पर्याप्त नहीं होता। वर्तमानको परखनेवाले ही कुछ कर सकते है। जैन संख्यामे भले ही कम हो, साहित्य, शिक्षा आदि क्षेत्रोंमे समृद्ध है। वे अवसरका संभलकर उपयोग करें तो भारतके लिए वरदान बन सकते है। आज संस्कृतिका प्रश्न भी विचित्र है। उसके लिए भी जगह-जगह संघर्ष छिड़े हुए है। सब अपनी-अपनी संस्कृतिको सर्वोत्तम बतलाते और दूसरो पर उसे लादनेकी चेष्टा करते है। यह ठीक नहीं। भगवान् महावीरने कहा है—

"सच्च लोगम्मि सारभूय।"

सत्य ही लोकमें सारभूत है। जो सत्य है, वही श्रेष्ठ है चाहे किसीके भी पास हो। सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह इस त्रिवेणी के संगमसे उत्पन्न होनेवाली संस्कृति ही सर्वश्रेष्ठ हो सकती है। जैन न केवल सिद्धान्तः अपितु कार्यरूपसे भी इस त्रिवेणीके निष्णात रहे है और अब भी है। समय-परिवर्तनके साथ-साथ कुछ गतिरोध हुआ है। पुनः गति पानेकी अपेक्षा है। वैसा होते

ही जीवन-धारा सजीव हो उठेगी। जैनोंकी संयमप्रधान परंपरा भारतके लिए ही नहीं, समूचे संसारके लिए संजीवनीका काम कर सकती है। आज विशेष प्रश्न भारतका है। उसका नवनिर्माण हो रहा है। उसमें जैन किस स्तर पर रहें, विचारणीय प्रश्न यह है। क्या वे भारतके सांस्कृतिक विकासमें सहयोगी बनें या रोड़े? दूसरा विकल्प प्रत्यक्षत: किसे भी स्वीकार नहीं होता। किन्तु प्रश्न स्वीकार या अस्वीकारका नहीं, उसकी कसौटी है कार्यकलना। जैन पुनर्विचार करें कि वे आज किस स्तर पर हैं? अपनी संस्कृतिके आसपास हैं या उससे दूर। वे त्यागमय भावनाकी परिक्रमा कर रहे हैं या स्वार्थ-बिन्दु की। वास्तवमें ही उक्त त्रिवेणी जैनोंकी सर्वोत्तम निधि है। किन्तु जबतक वह सैद्धान्तिक है तबतक उन्हींकी विचार-सामग्री रहेगी। सामूहिक लाभकी वस्तु नहीं बन सकती। सिर्फ बताकर दूसरोंको समझाया जा सकता है, कुछ करवाया नहीं जा सकता। जैन अपने बोलचाल, रहनसहन, रीतिरिवाज सबमें संयमको प्रधानता दें। सामाजिक आडम्बरोंसे जीवन बोझिल न बनायें। न आक्रान्ता बनें और न शोषक। वृत्तियोंका संकोच करें। इतना पालियां तो मैं समझता हूं कि बहुत कुछ पालिया, अगर अधिक गहराईमें न उतरें तो। यह सोचना भी कोई अर्थ नहीं रखता कि थोड़े से जैन बहुतों पर क्या प्रभाव डाल सकते हैं। उन्हें प्रभाव डालना भी तो नहीं है। उनकी सहज वृत्तियाँ अपने आप दूसरोंको आकृष्ट करेंगी। आजकी अर्थप्रधान संस्कृतिमें क्या कोई

समाज संयमप्रधान संस्कृतिको लेकर जीवित रह सकता या प्रतिष्ठा पा सकता है, यह विचार भी भूलसे परे नहीं है। रहना कठिन है किन्तु न रह सकें, यह बात नहीं, इसका परिणाम सुन्दर और सुखद होता है। समृद्धिशाली पचीस लाख जैनोंकी संयम-पूर्ण वृत्तियोंका दूसरों पर असर न हो, यह सम्भव नहीं। कदाचित् न भी हो किन्तु जीवन-कल्याण तो निश्चित है। मेरा विश्वास तो ऐसा है कि भगवान् महावीरने जिस अल्पारम्भी, अल्पपरिग्रही समाजका ढांचा जनताके सामने रक्खा, वह अल्पसंख्यामें रहकर भी दुनियाका पथ-दर्शन कर सकता है। हिंसा और अर्थप्रधान संस्कृतिके कडुए फल संसार भोग चुका है। हममें कुछ समझ है तो अब उसके पैर पकड़े रहनेकी कोई जरूरत नहीं। सही अर्थमें खानपान-रहन-सहनका विकास सांस्कृतिक विकास है ही नहीं, उनमें संयमका, थोड़े आगे बढ़ें तो मानवताका विकास ही सांस्कृतिक विकास है। क्योंकि शोषण और हिंसाविहीन समाज ही सबके लिए शिवङ्कर हो सकता है। जैन अपनी परंपरागत सम्पत्तिका उपयोग करना चाहें तो कठिनाइयोंके बावजूद भी संयमप्रधान संस्कृतिको अपनायें, दूसरों तक उसे पहुंचायें। भारतको इसकी पूर्ण अपेक्षा है यदि ऐसा हुआ तो भारतके इतिहासमें उनका सुचिर अभिनन्दन होगा।

[हांसी (पंजाब) आश्विन, २००७]

भारतीय परंपरा विश्वके लिए महान् आदर्श

आजका विश्व यातायात-साधनोंकी बहुलतासे बहुत छोटा बन गया। उसकी परिस्थितियां एक दूसरेसे घुलीमिली और प्रायः समान स्तर पर अवस्थित हैं। साहित्य, इतिहास, विधि-विधानसे लेकर दैनिक साधारण घटनाओं तकका आपसमें आदान-प्रदान होता रहता है। ऐसी स्थितिमें कोई देश विश्व-चर्चासे अपने आपको सर्वथा निर्लेप रखना चाहे, यह हवामें उड़नेकी सी बात है।

दूसरोंकी अच्छाइयोंको अपनानेमें संकोच होना जितना अनुचित है, उससे कहीं अधिक अपनी मानसिक दुर्बलताका सूचक है। बलवान् आत्माके सामने अपने-परायेका प्रश्न ही नहीं होता, उसकी दृष्टि सारासारकी रेखामें ही केन्द्रित होती है। दूसरोंकी अच्छाईको अपनाना गुण है तो उनका अन्धानुकरण करना महान् दोष है। वर्तमान दशा गुणग्रहणकी अपेक्षा अन्धानुकरणकी ओर अधिक झुकती है। विदेशियोंमें यह बात नहीं,

यह तो मैं नहीं कहता, किन्तु, भारतीय मानसमें इसका प्राचुर्य है, यह कहते हुए मुझे खेद होता है। शिक्षित भारतीयको इस पर अधिक ध्यान देनेकी आवश्यकता है।

भौतिक संघर्षके अखाड़ेमें भारत भले ही पिछड़ा हुआ हो, भले ही भौतिकवादियोंकी दृष्टिमें अविकसित देशोंकी सूचीमें हो, किन्तु वस्तुस्थिति कुछ और है। त्यागके प्यार-दुलारमें पली-पुसी भारतीय आत्मा अनेक शरीर परिवर्तनके बाद भी सजीव है। भारत उसे ताक पर रखकर चला तो यह उसके लिए सबसे बड़ा खतरा होगा। भारतीय जीवनमें सन्तोष, सहिष्णुता, धैर्य और आत्म-विजयकी जो सहज धारा बह रही है, वह दूसरोंको लाखों प्रयत्न करने पर भी सुलभ नहीं। प्रत्येक भारतीयको अपने पूर्वजोंकी इस कृति पर गौरव-अनुभव होना चाहिए। यदि उसके स्थान पर भौतिक संघर्ष, सत्ता-लोभ या पद-आकांक्षाका पादविहार हो रहा है तो मैं उसे भारतका दुर्भाग्य कहूंगा। राजनीति-क्षेत्रमें कांग्रेस सर्वाधिक शक्तिशाली और राष्ट्रका प्रतिनिधित्व करनेवाली संस्था मानी जाती है। उसका इस दृष्टिसे और अधिक महत्त्व है कि वह सन्त-मानस महात्मा गांधीके निर्देशनका लाभ उठा सकी। राजनीतिके प्रांगणमें भी उसने अपनी अहिंसा-सत्यमय या त्याग-तपस्यामय परंपराका पालन किया, यह उसके लिए स्वर्ण-सुगन्धका संयोग है। संक्षेपमें इतना ही है कि थोड़े पहले तक उसकी दिशाएं उज्ज्वल रही है किन्तु आज स्थिति कैसी है, इस पर विचार करना असामयिक नहीं होगा।

जुल्कर संयम-परंपराको बढ़ाएं तो भारतका सांस्कृतिक विकास अन्य तत्त्वोंकी अपेक्षा नहीं रखेगा। भारतका विकास अकिञ्चन सन्तोंकी सत्य-साधनासे हुआ है। यहां एक किसानसे लेकर पण्डित तक के हृदयमें निष्कामकर्मी, अनासक्त, अकिञ्चन, त्यागी भिक्षुके प्रति जो श्रद्धाके भाव रहे हैं, वे वैभवसे लदेहुए सम्राट्के प्रति नहीं रहे। यहां ऐश्वर्यपूर्ण विलासी नेतृत्व सफल नहीं हो सकता। नेतृगणको भी नाड़ी-ज्ञानमें भूल नहीं करनी चाहिए।

जनतन्त्रके बहाने आज व्यक्ति-व्यक्तिमें नेतृत्वकी भूख जगी हुई है। कोई कुछ सोच रहा है तो कोई कुछ। गार्हस्थ्यमें नितान्त भौतिक उपेक्षा नहीं की जासकती, किन्तु एकान्ततः भौतिक प्रभुत्व होना भी हितकर नहीं। आत्माको भुलाकर विश्वको विकसित करनेवालोंका एक बहुत बड़ा दल है। उसके सोचनेका तरीका भी दूसरा है। वह अर्थको ही सब समस्याओं का मूल मानता है। भारतके प्रमुख सेवक यदि निर्लिप्त नहीं रहे तो वे अपना और परका श्रेय नहीं साध सकेंगे।

सुदूर देशोंमें भारतकी न्यायप्रियता और तटस्थताकी छाप है, वह आर्थिक प्रभुत्वके कारण नहीं, इसका कारण उसकी आध्यात्मिकता है। भौतिकतासे ऊबेहुए मनुष्योंके हृदयोंमें भारतका जो स्थान है वह भारतीय हृदयमें नहीं यह कुछ स्वाभाविक सा है किन्तु शुभ नहीं। दूसरोंमें प्रतिष्ठा बढ़ने या बनाये रखनेके लिए नहीं, सचाई पर चलनेके लिए सत्य, अहिंसा और

अनासक्ति भाव रखना आवश्यक हैं। ये हों तो बहुतसी बुराइयोंसे अपने आप बचाव हो जाय। पर यह हो कैसे, आज पर-उपदेश-कौशलका पलड़ा भारी है। आचार-कौशल पौराणिक वस्तु बन गया। सही समझिये यह भारतीय मर्यादाके ही प्रतिकूल नहीं; अपने हितोंके भी प्रतिकूल है। आप कार्य्यंकर्ता हैं या नेता या कुछ भी हैं; व्यक्ति, समाज या राष्ट्र किसीके हितकी भावना है तो आप आत्म-निरीक्षण करें, अपनी वृत्तियों को संयत करें, इसमें आपका कल्याण है, समाज और राष्ट्र सबका कल्याण है।

[हांसी (पंजाब) आश्विन कृष्णा ५, २००७]

जीवनका सिंहावलोकन

जीवन क्या है ? यह जो जाने उसके लिए पर्युषण पर्व बड़े महत्त्वका है किन्तु इसका मुख्य विषय यह नहीं है कि जीवन क्या है, इसका विषय है—जीवन कैसा है और कैसा रहा। आय-व्ययके आंकड़े मिलाना जागरूक व्यापारीके लिए जितना आवश्यक है, उससे अधिक आवश्यक है धार्मिकके लिए जीवनके गुण-दोषोंका पर्यालोचन करना। जो अपने आपको देखे ही नहीं, वह क्या समझे और क्या छोड़े ? "जागो देखो और छोड़ो" भगवान् महावीरने यह उपदेश किया। "लो—ग्रहण करो" यह कहनेकी आवश्यकता ही नहीं, तब फिर वे ऐसा उपदेश भी क्यों देते ? आत्माको बाहरसे कुछ लेना नहीं है—कोई अपेक्षा नहीं। उसके आवरण हट जायं—बस इतनी ही अपेक्षा है। आवरण हटे कैसे ? इसके लिए उन्होंने बताया—संयम करो, निर्जरा करो बुरी प्रवृत्तियोंको रोको, सम्यक् प्रवृत्तिया करो। प्रत्येक महापुरुष के कार्य-क्षेत्रका विस्तारक कोई न कोई पर्व बन जाता है, यह पर्व भी उसी कोटिका है। जैन यानी आत्म-विजेताके लिए यह त्याग, तपस्या प्रायश्चित्त और क्षमायाचनका आदर्श लेकर

आता है और चला जाता है। जैन इससे क्या लाभ उठाते हैं, यह उन्हें देखना है। बहुत सारे जैन यह सोचते हैं कि यह पर्व सर्वोदयका प्रतीक है, जन-मात्रके लिए कल्याणकर है, फिर राष्ट्रीय पर्वके रूपमें क्यों नहीं मनाया जाता? मैं कहना चाहूंगा कि इससे पहले इतना और सोचें कि क्या उन्होंने इसको उसके योग्य बनानेका उपक्रम भी कुछ किया। आज बहुलतया जैनों की दृष्टिमें संयमकी अपेक्षा धनका महत्त्व अधिक है। वे धर्माढ्य बनना नहीं, धनाढ्य बनना चाहते हैं।

जैनोंके लिए आवश्यक है कि वे अपनी दृष्टिको अन्तर्मुखी बनायें। पर्युषण-पर्व आया है, अच्छा चलो कुछ धर्म-ध्यान सामायिक, पोषध, उपवास आदि आदि करलें। झूठ, हिंसा, दम्भचर्चा आदि प्रवृत्तियोंको भी त्याग दें। यदि यही बात है तो आपने पर्युषणका अर्थ नहीं समझा। पर्युषण-पर्व वह गंगा नहीं, जिसमें डुबकी लगाई कि जीवनभरके पाप धुल गये। पर्युषण उस पुस्तिकाके पृष्ठ हैं, जिनमें आप अपना जीवन पढ़ें। काले और सफेद सभी आचरणोंको देखें, और प्रायश्चित्तकी दृष्टिसे देखें। और भावी जीवन लिखें, वैसा लिखें जोकि काली पंक्तियां न आएं। संक्षेपमें यही समझिये कि धर्म करनेका समय सिर्फ पर्युषण ही नहीं, जीवनका प्रत्येक क्षण है। यह उसका स्मारक है, इसलिए इसका अधिक महत्त्व है, किन्तु आप इसको आठ दिनकी दृष्टिसे ही न मनाएं। जीवनकी दृष्टिसे मनाएं। आप इसे मनाना चाहते हैं तो सबसे पहले प्राणीमात्रसे क्षमा

मागे, वैर-विरोधको निर्मूल करे, दूसरोंको क्षमा करें, करे तो, जीवन भरके लिए करें और अन्तरंग वृत्तिसे करे वल 'क्षमा याचना' शब्दकी ही आवृत्ति न करे।

आप जीवन सुधार चाहते है तो पर्युषण-पर्वके अवसर पर पहले कीहुई बुराइयोंका प्रायश्चित करें और आगेके लिए उन्हें त्यागनेका संकल्प करें।

आप शान्ति-लाभ चाहते हैं तो इसके आदर्शको सामने रखकर त्यागको जीवनमें उतारें—विलासिता और आडम्बरको त्यागनेकी प्रतिज्ञा लें। आप इस पर्वको व्यापक बनाना चाहते हैं तो इसका असली रूप जनताके सामने रक्खें और स्वयं इसके अनुकूल बनें। यदि ऐसा किया तो आप पर्युषण-पर्व मनानेके अधिकारी हैं।

[हांसी (पंजाब), पर्युषण पर्वके अवसर पर, भाद्र कृष्णा १२, २००७]

कवि और काव्यका आदर्श

कवि और सहृदय गण !

आज आपकी सुखद उपस्थिति देखकर मुझे प्रसन्नता है। मैं सोचता हूं, शुष्क वातावरणमें रहनेवाले लोगोंका हृदय सरस करनेके लिए यहां अनेक कवि तरह तरहके भावोंकी जलराशि लेकर उपस्थित हुए हैं। न केवल आज ही बल्कि इतिहासकालसे कवियोंका महत्त्व सदैव रहा है। वे समाजकी विचाराधाराका प्रतिनिधित्व करते हुए जनताको निरन्तर सुपथकी ओर ले जाते रहते हैं। प्रकृतिमें विहार करनेवाले, विचित्र काम करनेमें

कूर्मलोमपटच्छन्न शशशृङ्गधनुर्धर ।
एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृत शेखर ॥

कछुएके बालोंसे बुना हुआ कपड़ा पहननेवाला, खरगोशके सींगका धनुष धारण करनेवाला यह बाझका बेटा आकाश-कुसुमका मुकुट पहने चला जा रहा है।

इस प्रकारके असम्भव वाक्योंको कविगण ही अपने कल्पना-गौरवसे साक्षात् सिद्ध करते है। काव्यका क्षेत्र साम्प्रदायिकतासे सर्वथा दूर है। इसमें आत्माका आनन्दानुभव ही सबसे बड़ा प्रमाण है। हृदय वितरणका—हृदयके भावोंको अभिव्यक्त करनेका यह सबसे श्रेष्ठ उपाय है। कवियोंके कन्धों पर इस समय बडी जुम्मेवारी है। आजके कवि कल्पना-जगत्मे विचरण करनेमें ही पटु हों, यह अच्छा नहीं। न केवल नखशिखका वर्णन करें, यह पर्याप्त नहीं। वे केवल प्रकृति, पर्वत व समुद्रकी शोभाका वर्णन करें, यह उचित नहीं। इस समय वे लोगोंमें सदाचारका प्रचार करनेमें अपनी कल्पनाको स्फूर्तिमय बनावें, मनुष्योंकी मनोवृत्तिको पवित्र करनेके लिए काव्यकलाकी वृद्धि करें। ऐसा करके ही वे निश्चिततया लोक-सेवक बनेंगे।

सुवर्णपुष्पिता पृथ्वी चिन्वन्ति नरास्त्रय:।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥

तीन व्यक्ति सोनेसे फलीफूली पृथ्वी पाते है:—शूरवीर, विद्वान् व जनसेवी। इस तरह सचेतन पृथ्वी को, सचेतन जगत्

की सेवा करने वाले कविजन अपनी वाग्वैदग्धीसे भूमण्डलको आत्मतुष्ट बनावें, यह आशा करता हुआ अपना वक्तव्य समाप्त करता हूं।

[१५, अगस्त ४९ (स्वाधीनतादिवस) के पुण्य पर्व पर आचार्यश्रीके तत्वावधानमें आयोजित विराट् कवि-सम्मेलनके अवसर पर]

असली आजादी

आज चतुर्दशी है। जैन जगत्‌में चतुर्दशीका विशेष महत्त्व है। आजके दिन प्रायः लोग अपने आत्मोत्थानके लिए धर्म, क्रिया, अनशन – उपवास आदि करते है। कई चीजोंका त्याग रखते हैं, इच्छाको संकुचित और सीमित बनाते है। रात्रि-भोजन का निषेध निभाते हैं। गरज कि आजका दिन त्याग-प्रधान दिन है। संयम और सादगीका प्रेरक है। यहा यह प्रश्न उठ सकता है कि धर्मके लिए आज ही का ठेका क्यों? चतुर्दशी और त्रयोदशी मे क्या अन्तर है? एकादशी और नवमीमें क्या भेद है? साधक के लिए साधनाकी दृष्टिसे तो कोई भेद नहीं, कोई अन्तर नहीं। लेकिन प्रायः लोग सब दिन एक साधना नहीं निभा सकते। इसलिए जैन आगमोंमें विशेष तिथियां निर्धारित हैं और जिनका ऐतिहासिक धार्मिक महत्त्व है। जिसमें चतुर्दशीका विशेष स्थान है। संयोगवश आजका दिन स्वतन्त्र भारतका पहला दिन है। कल तक तो हिन्दुस्तान परतन्त्र था, आज स्वतन्त्र है। इसलिए राजनैतिक दृष्टिसे भी चतुर्दशीका महत्त्व बढ़ गया है। धर्मका तो आज विशेष दिन है ही, लेकिन स्वतंत्र

यत्नकी तीव्र आवाज एक बुलन्द शक्तिकी तरह समस्त संसारको उद्घोषित कर सकती है।

मेरा आजका यह सन्देश महान् भारत और उसके खण्ड पाकिस्तानके राष्ट्र नेता और दोनों राष्ट्रकी जनताको है और दोनों पर स्वतन्त्रताका असाधारण उत्तरदायित्व है। स्वतन्त्रता की रक्षा राष्ट्र-नेता और राष्ट्रकी जनता दोनोंके आन्तरिक सहयोग पर निर्भर है। दोनों हाथ मिलाकर ही धोये जाते है जनता अपने कर्त्तव्योंको नेतागणों पर छोड़ दे या नेतृगण जनताकी उपेक्षा कर दें तो मूल लक्ष्यकी पूर्ति नहीं हो सकती। अस्तु दोनोंको आध्यात्मिक वृत्तिया अपनाते हुए नव-निर्माण करना है।

कल तक तो अच्छे-बुरेकी सब जिम्मेदारी एक विदेशी हुकूमत पर थी। यदि देशमें कोई अमङ्गल घटना घटती या कोई अनुत्तरदायित्व पूर्ण बात होती तो उसका दोष, उसका कलङ्क विदेशी सरकार पर मढ़ दिया जाता या गुलामीका अभिशाप बताया जा सकता था। लेकिन आज तो स्वतन्त्र राष्ट्रकी जिम्मेदारी उन्हीं पर आई है। जिम्मेदारी एक ऐसी चीज है, जो तोली नहीं जा सकती और न मापी जा सकी है। किन्तु जो इसको वहन करते है, उन्हें ही जिम्मेदारीका वजन मालूम होता है। स्वतन्त्र राष्ट्र होनेके नाते अब अच्छे-बुरेकी सब जिम्मेदारी जनता और उससे भी अधिक जन-सेवकों (नेताओं) पर है। अब किसी अनुत्तरदायित्व पूर्ण बातको लेकर दूसरोंपर

दोष भी नहीं मढ़ सकते। अब तो वह समय है जब कि आत्म-स्वतन्त्रता तथा विश्व-शान्तिके प्रसारमें राष्ट्रको अपनी आध्यात्मिक वृत्तियोंका परिचय देना है और वह तभी सम्भव है कि राष्ट्र नेता और राष्ट्रकी जनता दोनों अपने उत्तरदायित्वका ख्याल रखें।

मैं यहां यह स्पष्ट कर दूं कि 'मेरा यह सन्देश राजनैतिक, सामाजिक व भौतिक दृष्टिसे नहीं, वरन् विशुद्ध आध्यात्मिक है। मेरा यह प्रबल विश्वास है कि आध्यात्मिक उन्नति ही भारतकी और विश्वकी उन्नति है। आध्यात्मिक-जीवन इतना सुन्दर इतना स्वच्छ और इतना निर्मल है कि उसमें विश्वकी सभी चीज शुद्ध रूपमें समा जाती हैं। जिस प्रकार खिचड़ीके साथ उसकी भापसे ढकन पर रक्खे हुए ढोकले (एक खास पदार्थ) भी सीझ जाते हैं उसी तरह धर्मके साथ राजनैतिक, सामाजिक व नैतिक विकास भी स्वतः हो जाते हैं।

मैं जानता हूं, आज कई लोग धर्मकी बात सुनना पसन्द नहीं करेंगे। उन्हें धर्मसे चिढ़ है। धर्म उनके लिए एक हौआ है। भारत परतन्त्र था तब कहते थे—'गुलामोंका कोई धर्म नहीं।' लेकिन अब तो गुलामीका पर्दा भी हट गया है और स्वतन्त्र-भारतके निर्माण तथा आजाद राष्ट्रके नागरिकोंके लिए धर्म उतना ही स्वतन्त्र और आवश्यक बन गया है, जो स्वतन्त्रता की पुष्टिके लिए भी अनिवार्य है और इसी पर भारतकी स्वतन्त्रता अधिक सुरक्षित है।

यह एक स्मरणीय घटना है कि भारतकी आजादी, धर्म अर्थात् अहिंसाके अकिञ्चन प्रयोगसे, बिना किसी युद्ध और शस्त्र-बलके मिली है। हिन्दुस्तानको अपनी स्वतन्त्रताके लिए युद्ध द्वारा खून नहीं बहाना पड़ा, शस्त्र नहीं उठाने पड़े और न बम बरसाने पड़े। वरन् अहिंसाका एक मैत्रीपूर्ण वातावरण बनाना पडा। इससे प्रकाश मिलता है कि अहिंसामें कितनी नैतिक शक्ति है—जिसके अकिञ्चन प्रयोगसे आज भारत आजाद हुआ है, परतन्त्रताकी शृङ्खलाएं टूटी हैं और बड़ा साम्राज्य देखते-देखते हट रहा है। अहिंसाके सामने बड़े-बड़े शस्त्र और विनाशकारी प्रयोग भी समाप्त हो गये हैं। जिसका सुन्दर उदाहरण भारतकी स्वतन्त्रता है। यद्यपि अहिंसा कोई नया शस्त्र नहीं है। यह तो प्राचीन से प्राचीन है और जिसका प्रयोग भारत के ऋषि-मुनि करते आये हैं। जैन दर्शन में तो इसका सर्वप्रथम स्थान है। कहा है—

"धम्मो मङ्गल मुक्किट्ठ अहिंसा सजमो तवो।"

एक दृष्टिसे विश्वमें अहिंसावादका प्रचार करनेमें जैन धर्मका स्थान मुख्य है। अहिंसाकी एक महत्त्वपूर्ण सूझ जैनने दी है। तथापि आजकी राजनीतिमें धर्मको मुख्य स्थान देनेका श्रेय गांधीजीको है। अहिंसा द्वारा राजनीतिकी उन्नत्ति बनानेमें गांधीजीने अपनी एक विलक्षण शक्तिका परिचय दिया है, जो संसारकी तवारीखमें एक नई बात है। अहिंसा द्वारा एक शक्तिशाली साम्राज्यको हिला देना कोई साधारण बात नहीं है।

सम्भवतः और उपाय भी नहीं था। अंग्रेजोंके बड़े-बड़े शस्त्रोंके समक्ष और उनकी बकायदा व्यवस्थिति सैन्यशक्तिके सामने अस्त्र शस्त्र रहित नाताकत और अव्यस्थित जनताका टिक जाना कुछ असम्भव ही था! जिसके लिए गांधीजीने समय और सूझ दोनों का उपयोग किया और परिणामस्वरूप भारत आज बिना किसी शस्त्र क्रान्तिके आजाद हुआ है और संसारके इतिहासमें अहिंसक क्रान्तिका एक नया अध्याय जोड़ा है।

परन्तु आजके आनन्दोत्सवमें जनता अपने मुख्य लक्ष्यको नहीं भूल जाय जिससे कि भारत आजाद हुआ है। आजाद होनेके नाते भारत और उसके निवासियों पर बड़ी बड़ी जिम्मेदारियां हैं। अब संघर्ष या वार्तोंका समय नहीं, वरन् आत्म-निर्माणका समय है, जिसकी परीक्षामें भारतको उत्तीर्ण होना है और समस्त संसारको अपनी संस्कृति व सचाईका परिचय देना है। सारा संसार आज असन्तोषकी ज्वालामें सांय-सांय कर जल रहा है। अनेक व्यक्ति अपने भिन्न-भिन्न दुःखोंसे दुखित, दरिद्र, प्रताड़ित, शोषित एवं अशान्त हैं। प्रायः शारीरिक और मानसिक दोनों तरहकी अशान्ति है। जिससे कि परस्पर एक दूसरेमें विरोध, युद्ध, प्रतिहिंसा और बदलेकी दुर्भावना है। पारस्परिक विरोधको लेकर पिछले दिनों राष्ट्रमें जो अमंगल घटना घटी है और जिससे कि भारत बदनाम हुआ है। रेलको उलट देना, बाजार जला देना, चलते—चलते छूरे भोंक देना, स्त्रियों और बच्चों पर नृशंस अत्याचार आदि।

नागरिकके लिए बारह नियमोंका उल्लेख है। जिसकी व्याख्या काफी विस्तृत है। पर यहां संक्षेपमें ही समझना काफी होगा।

(१) स्थूल हिंसा नहीं करना अर्थात् चलते-फिरते प्राणियोंका विना मतलब वध कर देना, छूरा भोक देना और शोषण तथा अन्याय मूलक शारीरिक, मानसिक व वाचिक हिंसाका त्याग।

(२) स्थूल झूठ बोलनेका त्याग अर्थात् छल, कपट, दाम और विश्वासघात आदि असत्य प्रवृत्तियोंको छोड़ना।

(३) स्थूल चोरी नहीं करना अर्थात् ब्लैकमार्केट आदि अनुचित प्रवृत्तियां करनेका त्याग।

(४) वेश्यागमन और परस्त्री सेवनका त्याग।

(५) स्थूल परिग्रह अर्थात् धनकी लालसा व अधिक संचय का त्याग। इसमें समाजवाद और साम्यवादके आदर्शवादका भी परिचय है।

(६) दिशाव्रत—अर्थात् विना जरूरत यात्राका परिमाण।

(७) भोगोपभोगव्रत—खाने, पीने, पहरने और शृङ्गार आदि का यथाशक्ति परिमाण।

(८) अनर्थ-दण्ड विरति—अर्थात् निरुद्देश्य अनर्थ-पाप करनेका त्याग। इस व्रतसे संसारके अशान्त वातावरणको मिटाने में काफी सहायता मिलती है।

(९) सामायिकव्रत—यह आगेका कदम है। कमसे कम एक मुहूर्त के लिए आत्म-शान्ति और सत्यकी साधना करना।

(१०) देशावकाशिकव्रत—अर्थात् नियमों पर कुछ समय तक दृढ़ रहना।

(११) पौषधव्रत—अर्थात् दिन व रातके लिए साधुत्वकी युक्त साधना करना।

(१२) अतिथिसंविभागव्रत—संयमी आत्माओंको शुद्ध दान देना।

उपरोक्त बारह व्रत जैन दृष्टिसे आदर्श श्रावक और सुयोग्य नागरिक बननेके लिए अत्यन्त उपयोगी है। जिनके अनुकरण से न सिर्फ राष्ट्रके स्वतन्त्र नागरिकोंका जीवन ऊपर उठेगा, वरन् इससे विश्व-शान्तिके निर्माणमें भी शक्ति संगठित होगी। आज विश्व-शांतिको कायम रखनेके लिए सुयोग्य चरित्रवान् नागरिकों की अधिक आवश्यकता है, जिनका जीवन राष्ट्रकी सुरक्षा, शांति और निर्माणके उपयुक्त हो। उसका उचित निर्देशन इन बारह व्रतोंमें है। यहा मैं कुछ और दूसरे ऐसे नियमोंका भी उल्लेख करूंगा जो इस अवसरपर भारतके कल्याणमें अधिक उपयुक्त होंगे।

(२) क्रोध, अभिमान, दम्भ और लालचका त्याग करना। विश्वकी शांतिमें यह चार चीजें अक्षम्य अपराधोंकी तरह है, जिनका अहिंसात्मक निरोध आवश्यक है।

(३) घूसखोरी, जूआचोरी और चोर-बाजारको छोड़ना। इनके कारण आज संसारमें एक मानसिक प्लेगकी सी बिमारी फैली हुई है। जन और मनका अधिक शोषण इन तीनोंसे होता है और यह स्वतन्त्रताके कट्टर शत्रु है।

(४) धर्म-सहिष्णुता—अर्थात् सभी धर्मोंके प्रति उदार और समभाव रखना। धर्मको साम्प्रदायिक दृष्टिसे न देखकर उसकी अच्छाइयोंको देखना। "जो सत्य है वही मेरा है।" इस वृत्ति

को अपनाना और धर्मको धर्म आंकना जिससे कि भारतमें फैले हुए साम्प्रदायिक विषका दमन किया जा सके।

(५) कानून और विधानका निर्माण ऐसा नहीं हो जो जनतामें घृणा, दुर्भावना और साम्प्रदायिकताका बुरा वातावरण बनाये और हर नागरिकको अपनी धर्म-स्वतन्त्रताका अधिकार न रह सके। मैं जानता हूं; नये राष्ट्रके सच्चे नेता स्वयं इसके लिए जागृत होंगे। पर मेरा कर्त्तव्य तो आज इसके लिए प्रेरित कर रहा है।

(७) विश्वमें विज्ञानकी अब हद हो गई है। ऐसे विनाश-कारी प्रयोगोंको तुरन्त बन्द किये जांय, जिनसे राष्ट्रके राष्ट्र कुछ क्षणोंमें नष्ट हो सकते हैं। पहलेके युद्धसे तो सैनिक ही मरते थे पर अब तो क्षणभरमें एक पूरा देश श्मशान तुल्य हो जाता है और जनता त्राहि २ करने लगती है। दानवताकी हद हो गई है। अस्तु विज्ञान पर अनुशासन किया जाय और ऐसे विनाश कारी प्रयोगोंको जो मानवताकी रक्षामें बाधक हैं; कतई बन्द कर दिये जायं, जिससे कि एक देशकी दूसरे देशके प्रति फैली हुई अशांति मिट सके। अन्यथा ज्वाला कभी भी महायुद्धका प्रचण्ड रूप धारण कर सकती है।

(८) परस्पर विरोधको समाप्त कर सद्भावना और विश्व-मैत्रीका वातावरण तैयार किया जाय। अब तो भारतके टुकड़े होने थे, वह भी हो गये। फिर क्या हो रहा है? तिस पर भी आज जो घृणा और द्वेषका वातावरण है, उसको सद्भावना

और मैत्रीमें परिणत किया जाय। और दोनों राष्ट्रोंमें सद्भावना युक्त वातावरण बने।

(६) धर्म और अहिंसाकी जाग्रति की जाय, मानवताका संगठन किया जाय और सबको धर्मकी स्वतन्त्रता दी जाय। अभी हालके ब्राडकास्टमें पं० जवाहरलालने धर्म-स्वतन्त्रताका विश्वास दिलाया है और मि० जिन्नाने भी नागरिकों की धार्मिक स्वतन्त्रता पर बाधक नहीं बननेका भाषण किया है। लेकिन केवल कथन ही काफी नहीं, उसके लिए उपयुक्त वातावरण बनाया जाय। जिससे कि किसीको अपने धर्मके लिए संदेह-आशंका नहीं हो। और यह स्वतन्त्र राष्ट्रके लिए आवश्यक है।

यदि उपरोक्त सुझावों पर ध्यान दिया गया तो न सिर्फ स्वराज्य वरन् रामराज्यका वह आदर्श भी देख सकते हैं जो मानवताका सुदर्शक है। मेरी कामना है कि आजका दिन मानवताके उत्थान तथा विश्व-मैत्रीके प्रसारमें आलोक सिद्ध हो। आजकी यह स्वतन्त्रता तो केवल नाममात्रकी स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्रता मिली है, पर स्वतन्त्रताको हजम करना है। जिसके लिए स्वतन्त्र राष्ट्रके नागरिक इन्द्रियोंकी दासता और विषयोंकी गुलामीसे मुक्त होकर आत्म-स्वतन्त्रताके पुजारी बनें। और जबतक आत्माके इन बन्धनोंको नहीं तोड़ा जायगा, तब तक वस्तुतः आजादीका लाभ नहीं मिल सकता। आजादीको अपनाना है तो आत्म-स्वतन्त्रताको अपनाइये और अपने दुर्गुणों को निकाल कर आत्म स्वातन्त्र्यकी लौ जलाइये। तभी स्वतंत्रता

की सच्ची दीवाली मनाई जा सकती है। ऊपरी और बाह्य रोशनी से कुछ नहीं वरन् अन्तरमें रोशनी जाग्रत कीजिये। अन्धकार को मिटाइये और आत्मामें प्रकाश पैदा कीजिये। जबतक यह नहीं होगा, तबतक आजकी स्वतन्त्रताकी यह नई दीवाली पहले की दीवालीकी तरह ही पुरानी पड़ जायगी और यदि सच्चे हृदयसे इसका अनुकरण किया तो यह सदैव हमारी आत्मामें नई और निर्मल बनी रहेगी और इसके साथ एक नये अध्यायका सूत्रपात होगा। क्या स्वतन्त्र राष्ट्रकी जनता अपनेमें प्रकाश जाग्रत करेगी?

[१५, अगस्त १९४७ (प्रथम स्वाधीनता दिवस) के अवसर पर]

स्वतन्त्रताकी उपासना

पन्द्रह अगस्तके दिन भारतवर्षने गुलामीसे मुक्त होकर स्वाधीनताको वरण किया था। जिसको पूरा एक वर्ष हो गया और उसकी स्वतन्त्रताका दूसरा वर्ष प्रारम्भ हो रहा है। इस एक वर्षके अपने स्वातन्त्र्यके शैशव कालमें इसे अकथनीय आपदाओं और संकटोंका सामना करना पड़ा है। धर्म और अधिकारोंके नाम पर कितने अमानुषिक कृत्य हुए। फिर भी देशके योग्य नेताओंने अपनी बुद्धि, विवेक एवं स्थितिका सामना करनेकी वज्र शक्ति द्वारा तथा जनताने अपनी असीम सहिष्णुता द्वारा भयंकरसे भयंकर कष्टोंका सीना तानकर मोर्चा लिया। परिणामस्वरूप स्थिति सम्भल गई और आज भारतकी अनेक समस्याएं सुलझ-सी गई है। हालांकि अब भी कुछ का निराकरण होना शेष है, ऐसा मालूम होता है।

आजादीका प्रवाह !

भारतको वर्षोंके संघर्षके बाद आजादी प्राप्त हुई और देश-नायकोंको उनके इस प्रकार अहिंसाके अमोघ अस्त्र द्वारा स्वतन्त्रता

प्राप्त करने पर देश-विदेशसे उन्हें अनेक बधाइयोंके संदेश प्राप्त हुए। लेकिन विचारनेकी बात है, आज जनताने उस आजादी का किस रूपमें उपयोग किया। हंस-हंस कर प्राणोंकी आहुति देनेवाले उन देशभक्तों द्वारा प्राप्त स्वतन्त्रताका क्या यही उपयोग होना था ? मैं कहता हूं, आजाद भारतके नागरिकों, अपनी आंख खोलो, सोचो और देखो कि तुम्हारे जीवनका प्रवाह किधर है ? तुमने एक वर्षमें अपने जीवनको उठानेमें क्या किया ? क्या जीवनका क्रम यही रहना है ?

एक कटु सत्य—

आजादी आजादी चिल्लाते कितने युग बीते, देशने अनेक और भी हथियारोंका प्रयोग किया। किन्तु आखिर तो अहिंसक सैनिकोंको ही यह ऐतिहासिक विजय प्राप्त हुई। हिंसा पर अहिंसा का कितना बड़ा प्रभाव दिखाई दिया। मेरे सामने कई ऐसे अवसर आये जब देशके गण-मान्य नेताओंसे धर्म और धर्मजात अध्यात्म भावोंका प्रचार करने एवं अपनानेको कहा गया, किन्तु उत्तर मिलता था—"परतन्त्रोंका धर्म कैसा ? पहिले स्वतन्त्र होलें, फिर धर्मके सम्बन्धमें सोचेंगे।"

किन्तु खैर! परतन्त्रावस्थामें तो भारतके नागरिक यदि धर्मको जीवनमें लानेके बाबत कुछ नहीं भी सोच सके, पर आज तो वे स्वतंत्र हैं, फिर क्यों छोटे-छोटे स्वार्थोंमें पड़कर, झूठे मान और सम्मान के भूखे बन, उस गहरे गड्ढेमें पड़ रहे हैं ? क्यों जगह-जगह अखाड़े बने दीख पड़ते हैं ? जिस स्वतन्त्रताको प्राप्त करनेके लिए

बड़ासे बड़ा भौतिक त्याग किया उसे प्राप्त करनेके बाद, स्वार्थों का यह भूत क्यों सिर पर चढ़ बैठा, और अपनेको उपहास-पात्र बनाने लगे। मैं तो देखता हूं, जिस प्रजातन्त्र और जनतन्त्रकी लोग कल्पना किये बैठे थे, वह तो स्थापित हो गया किन्तु जनता में स्वार्थतन्त्रका भी अधिक प्रसार होता दिखाई दे रहा है। मेरा कथन कटु हो सकता है किन्तु सत्यसे परे नहीं। कभी कभी रोगकी विषमावस्थामें खट्टी औषधियोंका प्रयोग भी क्या जरूरी नहीं हो जाता है ?

असली आजादीकी ओर बढ़ो

हिन्दुस्तानवासियो ! आज राजनीतिक आजादीके आनन्द में मस्त होकर अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्यका ज्ञान भूल बैठे हो। किन्तु इस बेसुधावस्थामें कहीं अपनी बरबादीका बीज वपन न कर बैठना। अब भी संभलो ! जरूरी तो है, तुम अपनेको पूर्ण रूप से आध्यात्मिक बनाओ किन्तु वह यदि शक्य नहीं तो कमसे कम मानवता की रक्षार्थ जो नियम-पालन अत्यावश्यक हैं, वह तो पालन करो, अन्यथा तुम्हारी सारी मानवता दानवतामें परिणत होते क्या देर लगेगी ? इस मानवलोकको क्या दानवलोक बना देना है ? मानवताकी तो रक्षा करो, इसकी शान रखो और असली आजादीकी तरफ बढ़ो।

सन्देश

मैं आज भारतीय राष्ट्रके नागरिकोंको विशेष जोर देकर

कहता हूं कि भारत आदिकालसे ही धर्म-प्रधान देश रहा है, भगवान् महावीर और गौतम आदि महान् आत्माओंका अवतरण इस देशमें हुआ और उन्होंने संसारको शक्ति और कल्याणका परम आध्यात्मिक मार्ग बतलाया है। आज भारत अपने उन नररत्नोंसे गौरवशाली है, तो तुम वह प्राचीन आदर्श क्यों भुलाये जा रहे हो? वस्तुतः यदि प्राप्त की गई आजादीको तुम अक्षुण्ण बनाये रखना चाहते हो तो दम्भचर्य्या और स्वार्थ-साधनकी वृत्तियोंको त्यागो एवं उनके स्थानमें जीवनमें आध्यात्मिक प्रवृत्तियोंको स्थान दो, नैतिकता पनपाओ और जीवनमें धर्मको उतारो, तभी अपनेको आजादीका सच्चा उपासक बना सकोगे।

[१५ अगस्त १९४८, (द्वितीय स्वाधीनता दिवस) के अवसर पर]

स्वतन्त्र भारत और धर्म

आजका दिन वह दिन है जिस दिन स्वतन्त्रता मिली थी, अहिंसाके बलसे गुलामीकी बेड़िया टूटी थीं, विदेशी शासन समाप्त हुआ था, जनताने बड़ी खुशीसे समारोह मनाया था, किन्तु मेरी दृष्टिमें वह अन्तिम स्वतंत्रता नहीं थी। स्वतंत्रता के दो रूप है—अंतरंग और बहिरंग। दोनोका उद्देश्य एक है—कि निजी सत्तामें, निजी सुख-सुविधाओंमें कोई बाधक न बने—हस्तक्षेप न करे। भारतको आज बहिरंग स्वतंत्रता प्राप्त है। विदेशी हुकूमत चली गई। अपनी सत्ता और अपना शासन है। पर दूसरा पहलू आज भी कमजोर है। दूसरा चक्र दुर्बल है। एक चक्रसे गाडी ठीक नहीं चलती। अंतरंग स्वातंत्र्य के बिना हजार उपाय करने पर भी सुख संभव नहीं। अंतरंग शत्रुओंका खात्मा हुए बिना स्वशासनकी स्थापना नहीं हो सकती।

आज हिंसाकी प्रबलता है। घर-घर, व्यक्ति-व्यक्ति, समाज-समाज और देश-देशमें ईर्ष्या, द्वेष, और कलहकी चिनगारिया उछल रही है। मनमें शान्ति नहीं, दिनमे पूरी रोटी नहीं, रात

में पूरी नींद नहीं। भूख पर नियंत्रण नहीं, पर अन्न पर नियंत्रण है, मकान और कपड़े पर भी नियंत्रण है। छोटे और बड़े व्यापारी और कर्मचारी सबमें संग्रहकी भावना है। कोई चोर-बाजारी करता है तो कोई घूंसखोरी। घूंसखोरीके चलते रहने पर चोर-बाजारी मिट ही कैसे सकती है? घूंसका काम तो यहांतक बढ़ चला है कि उसके बिना राशन नहीं मिलता, टिकिट नहीं मिलती और क्या, बिना पांच रुपये दिये बड़े आदमियों तक पहुंचना भी संभव नहीं होता! लालसा इतनी कि व्यक्ति २ बड़ा बननेकी सोच रहा है, संसारपति बनने या त्रिलोकीके अधिकारोंको हस्तगत करनेकी चेष्टा कर रहा है! ये सब अंतरंग शत्रु हैं। क्या ये आजादीके दुश्मन नहीं हैं? सही अर्थमें स्वतंत्रताका सुखानुभव करना है तो इनको जीतो और असत्यसे बचो। आज यहां सत्यवादी कम मिलेंगे। जनसाधारणमें यह धारणा बनी हुई है कि असत्यके बिना काम नहीं चल सकता। वास्तवमें यह गलत है। एक दिन भारत सत्यवादिताके लिए संसारका गुरु था। सुदूर प्रदेशोंमें इसकी प्रतिष्ठा थी। भारतीय जनतामें ताला लगाने और किंवाड़ जड़नेकी प्रथा नहीं थी। कितनी अचौर्य वृत्ति! आज तो नंगी तलवारोंके पहरेमें भी चोरीकी घटनाएं घटती रहती हैं। आज भी नास्तिकता नहीं; सत्यवादी और अचौर्य वृत्तिवाले मिलते हैं। पर; जबतक इन बुराइयोंके विरुद्ध सामूहिक प्रचार न हो तबतक स्थितिमें सुधार नहीं आ सकता। थोड़े

व्यक्तियोंकी क्या चले वे भले ही कहीं चनोंमें घुनकी तरह पिसा जायं।

भारतको सुखी बनना है, स्वतन्त्र रहना है तो वह विलासी न बने। विलासी जीवनमें फिजूलखर्ची होती है। आर्थिक विषमता रहती है। आडम्बर बढ़ते हैं। रावण जैसे प्रतापी राजाका पतन एकमात्र विलासिताके कारण हुआ। फ्रांसकी अन्तरात्मामें कमजोरी आई, उसका कारण भी क्या विलासिता नहीं थी? भारतीय जनता अधिकसे अधिक अपना जीवन सादगीपूर्ण बनाए, आत्म-संयमका अभ्यास करे। भगवान् महावीरने कहा है:—

"अप्पा दन्तो सुही होई, अस्सि लोए परत्थय"

'आत्मदमन करनेवाला इहलोक और परलोक दोनोंमें सुखी होता है।' श्रीकृष्णने गीतामें कहा है:—

आत्मैव आत्मनो मित्र, आत्मैव रिपुरात्मन.।
उद्धरेदात्मनात्मान, नात्मानमवसादयेत्।

दोनोंकी वाणीका तात्पर्य एक है—आत्म-विजय करो। सुखी और समृद्ध बननेके लिए अन्तरंग शत्रुओंका अन्त करना आवश्यक है। जैन आगमोंमें इसका एक सुन्दर प्रसंग आता है। नमिराजर्षिको इन्द्र प्रार्थना करता है।

आमोसे लोमहारेय, गट्ठि भेयेए तक्करे।
नगरस्स खेमं काउण, तओ गच्छसि खत्तिया।

राजर्षि मिथिलाको विविध प्रकारके चोर-लुटेरोंके भयसे

मुक्त कर दीक्षा लें, आपकी नगरीका सर्वस्व लूटनेवालोंको दण्ड दें। इन्द्रकी बात सुन राजर्षि बोले—

"असइं तु मणुस्सेहिं मिच्छादंडो पजुंजई।
अकारिणोत्थ वज्झंति मुच्चइ कारगो जणो॥

भाई! अनेक वार मनुष्यों द्वारा मिथ्या दण्डका प्रयोग होता है। साहूकार अदालतकी चक्कीमें पिस जाता है, चोरका बाल बांका नहीं होता। क्रोध, अभिमान, दम्भचर्य्या और असन्तोष आत्म-सत्ताके लुटेरे हैं। आप लोगोंको भी अंतरंग दस्युओंसे भय-मुक्त होनेकी और उन्हें दण्ड देनेकी शिक्षा लेनी चाहिए। सबके दिलमें महत्त्वाकांक्षा है—कुर्सी पर बैठनेकी लालसा है, यद्यपि कुर्सीको अपने ऊपर बिठानेसे ज्यादा उनमें योग्यता नहीं है। बड़ा वह बनता है जो नम्र होता है—अभिमानका त्याग करता है। महाराज दशार्णभद्रका उदाहरण आपके सामने है। दशार्णपुरमें भगवान् महावीर पधारे। महाराजने भगवत्-वन्दन का विचार किया। उसने सोचा, "भगवत्-वन्दनके लिए अनेक राजे महाराजे गये हैं, मैं भी गया हूं, किन्तु आज ऐसी सजधज के साथ भगवान्को वन्दन करूं जो पहले न तो हुआ हो और न कभी आगे भी हो।" सेना सजाई, आडम्बरके साथ राजमहल से चला। इन्द्रने महाराजके घमण्डको देखा। उसने सोचा— अरे! भगवत्-वन्दनमें भी अभिमान! इन्द्रने ऐरावतकी सवारी की। बड़े आडम्बरके साथ गगन-मार्गसे मनुष्य लोकके पास आ पहुंचा। इन्द्रका वैभव देखकर दशार्णभद्रका घमण्ड चूर हो

गया। पहाड़के सामने राई और समुद्रके सामने जलकी एक बूंद की भला क्या हस्ती ? सूर्यके सामने दीपककी भांति इन्द्रके सामने दशार्णभद्रकी विभूति निस्तेज हो गई। महाराजने सोचा, अब क्या करूं ? अब मेरी लाज कैसे रहे ? भगवान्‌की शरणमें आया और बोला—"भगवन् ! कृपा करो, आलम्बन दो। मेरे अभिमानका एकमात्र प्रायश्चित्त दीक्षा है। मुनिव्रत स्वीकार करनेकी आज्ञा दो।" भगवानने महाराजको अपनी शरणमें ले लिया। मुनिके चरणोंको छूता हुआ इन्द्र बोला—मुने ! सेवककी धृष्टता को क्षमा करो। मैं त्याग-मार्गके लिए असमर्थ हूं। आपके नख की भी तुलना नहीं कर सकता। राजर्षि ! मैं आपका घमण्ड दूर करने आया, किन्तु आपने मेरा घमण्ड चूर कर दिया। देखिये, बड़प्पन त्यागसे होता है। मान करनेसे मान नहीं रहता। मान रहता है मान-त्याग से।

इस संसार मंच पर बड़ी-बड़ी क्रान्तियां हुईं। उनके फलस्वरूप नये नये वाद जन्मे। पुराने जमानेमें समाजवाद, साम्यवाद जैसे वादोंका नाम तक नहीं था। आज उनकी बड़ी हलचल है। इन वादोंके जन्मका कारण क्या है ? यह भी सोचा होगा। आप भिन्न-भिन्न वाद नहीं चाहते, फिर भी उनके पैदा होनेके साधन जुटा रहे हैं। आश्चर्य ! ये वाद दुखमय स्थितियों से पैदा हुए हैं। एक व्यक्ति महलमें बैठा-बैठा मौज करे और एकको खाने तक न मिले, ऐसी आर्थिक विषमता जनतासे सहन न हो सकी। एक व्यक्ति अपनेको उच्च माने और दूसरेको नीच-

अस्पृश्य। एक तो वह सफाई करे और फिर नीच कहलाये, इस भेद-बुद्धिने ही विद्रोहका झंडा ऊंचा किया। वास्तवमें ऊंच नीचताकी चावी तो गुणावगुण है। जैन-दर्शनने "जाति-वादः अतात्त्विकः" जातिवादको अतात्त्विक माना है। भगवान् महावीरकी वाणी में—

"कम्मुणा बंभणो होई, कम्मुणा होई खत्तियो।
वइसो कम्मुणा होई, सुद्दो हवई कम्मुणा॥"

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र सब अपने कर्मके अनुसार याने आचरणके अनुसार होते हैं।

धर्मके लिए भी जातिवादका प्रश्न उठता है। खेद! धर्म सबके लिए है:—

"व्यक्ति व्यक्तिमें धर्म समाया,
जाति पांतिका भेद मिटाया,
निर्धन धनिक न अन्तर पाया,
जिसने सारा जन्म सुधारा,
अमर रहेगा धर्म हमारा।

भगवान् महावीरके शासनकालमें हरिकेशी जैसे चाण्डाल मुनि बने और अपनी साधनाके उत्कर्षसे देवताओंके पूज्य बने। जैनोंको इस जातिवादके पचड़ेमें पड़ना उचित नहीं। सुना जाता है कि कई जैनाचार्य भी इसमें फंस रहे हैं। मेरी व्यक्तिगत सम्मति है कि वे जैनके आत्मवादकी ओर निहारें। स्थितिका निरीक्षण करनेके बाद मैं आप लोगोंसे यही कहूंगा

कि आप आध्यात्मिक समाजका दूसरे शब्दोंमें समतावादी समाजका निर्माण करें। उसका पहला कदम होगा,—अन्तरंग शत्रुओंकी विजय। यहां पर अनुशासनका आसन आत्मानुशासन ग्रहण करेगा

"सव्वे अवकन्त दुखाय, अओ सव्वे अहिंसिया"

कोई भी प्राणी दुःख नहीं चाहता, इसलिए किसीको सताना महापाप है। पर-पीड़न और पर पोषणका अभाव होगा उसीके परिणाम-स्वरूप अहिंसा एवं विश्वमैत्रीका विस्तार होगा। आर्थिक नियन्त्रण—इच्छा-परिमाणका पालन करना उसके लिए आवश्यक होगा। अन्तरंग साम्यवादमें, पर अधिकार-हरण एवं विलासिता नहीं टिक सकेंगे।

अध्यात्मवादमें व्यक्ति-स्वातन्त्र्यका प्रमुख स्थान है। इसलिए व्यक्ति अपनी अच्छी बुरी क्रियाका उत्तरदायी और फलोपभोग-कर्ता होता है। समता, मैत्री, सन्तोष, आत्म-रमण आदि विशेषतायें अध्यात्मवादी शासनमें ही पनप सकती हैं। भौतिकवादी शासनकी स्थिति इसके विपरीत होती है। उसमें स्वार्थ, बड़प्पनकी भावना, अभिमान आदिका प्रसार होता है किन्तु इस स्थितिसे राष्ट्र सुखी नहीं होता। महाभारतमें लिखा है—

"यत्र सर्वेऽपिनेतारः, सर्वे पण्डित मानिनः
सर्वे महत्व मिच्छन्ति, तद्राष्ट्र विद्धि दुःखितम्"

"जिसमें सब व्यक्ति नेता बने हुए हैं, सबके सब अपने

आपको पण्डित मानते हैं और सब बड़प्पनकी भूख रखते हैं वह राष्ट्र दुःखित है।" आजकी स्थिति करीब-करीब ऐसी ही हो रही है। इसीलिए यहां अध्यात्मवादकी पूर्ण आवश्यकता है। वही इन बुराइयोंको मिटा सकता है। धर्मसे कुछ लोग चिढ़ते हैं, किन्तु वे भूल पर हैं। धर्मके नाम पर फैली हुई बुराइयोंको मिटाना आवश्यक है, न कि धर्म को। धर्म जन-कल्याणका एकमात्र साधन है। मैं चाहता हूं कि धर्म-प्रधान भारतके निवासी अहिंसा, सत्य और सन्तोषकी भित्ति पर जीवन-निर्माण करें और इस राजनैतिक स्वातन्त्र्य-पर्वको अन्तरंग स्वातन्त्र्य-पर्वके रूपमें मनाएं।

[जयपुर (राजस्थान) १५ अगस्त १९४९ (तृतीय स्वतन्त्रता-दिवस) के अवसर पर]

स्वतन्त्रता क्या है ?

१५ अगस्तका दिन भारतकी स्वतन्त्रताका पहला दिन है। यहां स्वतन्त्रताका अर्थ है विदेशी सत्ताके स्थान पर स्वदेशी सत्ता का शासन। क्या यह बात सही नहीं है ? यदि है तो स्वतन्त्रता कहां ? अपना शासन कहां ? अपनेमें सहानुभूति होती है और सुखानुभूति भी। लोग कहते हैं— हम पहलेसे भी अधिक दुःखी हैं। क्यों ? आपका अपना शासन फिर दुःख कैसा ? आपने मेरा हृदय समझा होगा—आपने विदेशी शासन हटा दिया पर आप अपना उत्तरदायित्व नहीं संभाल सके।

आज समूची दुनियामें स्वतन्त्रताकी गूंज है। मानव-समाजका बहुत बड़ा भाग स्वतन्त्र हो चुका है या होने जा रहा है। विदेशी शासन-सूत्रका हट जाना ही क्या स्वतन्त्रता है ? आज ऐसे कितने राष्ट्र मिलेंगे जो विदेशी सत्ताके हाथमें न खेल रहे हों, उनके इङ्गित पर न नाच रहे हों। बड़े-बड़े राष्ट्र पूंजीके प्रलोभन और विशाल सैन्य शक्तिसे छोटे या कमजोर राष्ट्रों पर फैले हुए हैं। क्या छोटे और क्या बड़े, क्या शक्तिशाली और

क्या शक्तिहीन सब समस्याओंसे उलझे हुए हैं, स्वतन्त्र जैसा कोई लगता ही नहीं। स्थिति ऐसी है, फिर स्वतन्त्रताका क्या अर्थ ?

स्वतन्त्रताकी तड़प अवश्य है पर मार्ग नहीं सूझता। विश्व-शान्तिके लिए अणुबम आवश्यक है, ऐसी घोषणा करनेवालोंने यह नहीं सोचा यदि यह आपके शत्रुके पास होता तो। विश्व-शान्तिका अर्थ अपना प्रभुत्व बढ़ाना नहीं है। उसका अर्थ है दूसरेके अधिकारों पर हाथ न उठाना। दूसरा आपको अपना सिरमौर माने तब आप उसके सुख-दुःखकी चिन्ता करें, यह भलाई नहीं भलाईका चोगा है। आज प्रमुख प्रश्न जन-हितका नहीं, अपने वाद और सत्ताके प्रसारका है। कमजोरोंसे लाभ लूटने की—थोड़ेमें शोषणकी भावनाको छोड़े बिना विश्व शान्ति और स्वतन्त्रता की रट लगाना पागल-प्रलाप जैसी है।

भौगोलिक सीमा पर जातिभेदके कारण बंटे हुए राष्ट्रोंमें जन-धन और प्राकृतिक शक्तिका न्यूनाधिक्य होना संभव है। ऐसी स्थिति में एक दूसरे को निगलनेके लिए मुंह खोले रहे, यही अशांतिका बीज है। उसका मूलोच्छेद करनेके लिए अध्यात्मवाद जैसा दूसरा कोई तत्त्व नहीं है। मैं किसी एकके लिए नहीं कहता—चाहे साम्यवादी हो, साम्राज्यवादी हो या कोई दूसरावादी हो उन्हें समझ लेना चाहिए कि दूसरोंका इस शर्त पर सहयोग करना कि वे उनके पैरों तले चिपटे रहे, स्वतन्त्रताका समर्थन नहीं है। वर्तमान संकटका यही एकमात्र कारण है। इसीसे दो गुट बन गए। दोनोंका लक्ष्य बंटा हुआ है। अपने २ मुखियोंकी बात

का समर्थन करना, चाहे वह कैसी ही हो। स्थिति कैसे सुलझे? स्वतन्त्रताका अभ्युदय कैसे हो?

न्याय और दलबन्दी ये दो विरोधी दिशाएं हैं। एक व्यक्ति एक साथ दो दिशाओं में चलना चाहे, इससे बड़ी भूल और क्या हो सकती है?

मैं इस स्वतन्त्राकी पुण्य-वेलामें न केवल भारतीयोंसे ही अपितु मनुष्यमात्रसे यह अनुरोध करूंगा कि दलबन्दीके दल-दलमें न फंसे, दूसरोंकी स्वतन्त्रता के लिए खतरा न बनें।

स्वतन्त्र वह है जो न्याय के पीछे चलता है। स्वतन्त्र वह है जो स्वार्थके पीछे नहीं चलता, जिसे अपने स्वार्थ और तज्जन्य गुटमें ही ईश्वर-दर्शन होता है, विश्व-शान्ति और भलाई दीख पड़ती है, वह परतन्त्र है।

आजका दिन भारतीयोंके लिए विशेष महत्त्वका है। इसी दिन वे अपनी भाषामें स्वतन्त्र बने। भारतमें स्वतन्त्रताकी परंपरा बहुत पुरानी है। उसका अन्तिम लक्ष्य रहा है पूर्ण स्वतन्त्रता—शरीरमुक्ति। भला आप बाहरी परतन्त्रता भी कैसे सह सकते। आपने यत्न किया, अपनी परंपरा—अध्यात्मवादके सहारे लड़े। स्वतन्त्रता पाली। किन्तु आपको समझना चाहिए कि लक्ष्य अभी बहुत दूर है।

आपने इस लक्ष्यको समझ लिया होता तो आज व्यापक अनैतिकताके शिकार न होते। अध्यात्मप्रधान भारतीय जनता में अमानवीय बातें अधिक अखरने वाली हैं। मैं चाहता हूं कि

आप अपने स्वतन्त्र लक्ष्यको आगे बढ़ायें।

आपके पास "आत्मौपम्य बुद्धि" अपने पूर्वजोंकी दी हुई अमूल्य निधि है। इसकी तुलनामें कोई भी वाद नहीं ठहरता। भारतीय जनतामें न्यूनाधिक मात्रामें इसकी छाप है। यहांकी राजनीति भी इससे पुटित है। भौतिक शक्तिसे पिछड़े हुए भारतकी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठाका यही कारण है। मैं प्रत्येक देशवासीसे यह कहना चाहूंगा कि आप लोग भौतिकताके पीछे न पड़ें। पशु-बलके द्वारा ही सब कुछ निबटानेकी न सोचें। वह दिन आने वाला है जबकि पशु-बलसे उकताई हुई दुनियां आपसे अहिंसा और शांति की भीख मांगेगी। भारत गणराज्यके अधिकारी नेतृवर्गका भी यह कर्तव्य है कि वह आत्मिक बलको विकसित करनेका यत्न करें। आध्यात्मिक प्रकाशमें ही भारतीय आत्माने अमरत्व पाया है। भारतीय राजनीतिमें अनाक्रमण, अन्यायका असमर्थन, सचाईका भाव आदि तत्त्व रहें, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं; कारणकी अध्यात्मवादी भारतकी यह सहज सामान्य देन है।

हिंसा और स्वार्थ की नींव पर खड़ा किया गया वाद, भलेही आकर्षक लगता हो; अधिक टिक नहीं सकता। आखिर दुनिया को अहिंसाके राजमार्ग पर आना होगा। संभव है, धधकती हुई अशान्तिकी ज्वाला उसका मार्ग प्रशस्त करती हो। हिंसासे हिंसा मिट नहीं सकती। वैरसे वैर बढ़ता है। दूसरोंको आतंकित करनेवाला स्वयं अभय नहीं रह सकता।

प्रकृतिके साथ खिलवाड़ करने वाले इस वैज्ञानिक युगके लिए यह शर्मकी बात है कि वह रोटीकी समस्याको नहीं सुलझा सकता। सुखसे रोटी खा, जीवन बिताना इसमें बुद्धिमान् मनुष्यकी सफलता नहीं है, उसका कार्य है आध्यात्मिक शक्तियोंका विकास करना, आत्मशोधनोन्मुख ज्ञान-विज्ञानकी परंपराको आगे बढ़ाना।

आपके देशके अतीत पृष्ठ बड़े समुज्ज्वल रहे हैं। वर्तमान पृष्ठ आपके हाथोंमें है। वे सुनहले हों, अतीतको भुलानेवाले हों, यह मेरी मंगल कामना है।

आप स्वतन्त्र राष्ट्रके स्वातन्त्र्य-प्रेमी नागरिक बनना चाहते हैं तो अणुव्रती बनिये। अणुव्रती होनेका अर्थ है—अहिंसक होना, शोषण न करना, दूसरोंके अधिकार न हड़पना; और न कुचलना; एक शब्द में आत्मिक समतावादका अनुयायी होना। विश्वकी बदलती हुई स्थितियोंमें भी भारत अपनी संयममूलक स्वतन्त्रताको पनपा सका तो उसकी स्वतन्त्रता दूसरोंके लिए भी बहुमूल्य और आदर्श होगी।